मेरा नाम डॉक्टर योगेश खींची है मैंने पीएचडी प्राणी शास्त्र में एवं एमफिल प्राणी शास्त्र में कंप्लीट किया है मुझे 13 वर्ष का टीचिंग का अनुभव है जिसमें ग 8 वर्ष पोस्ट ग्रेजुएट एवं अंडरग्रैजुएट 13 वर्ष है । देवी अहिल्या विश्वविद्यालय द्वारा शोध निर्देशक के रूप में नामांकित किया गया हूं एवं विश्वविद्यालय की सीनियरिटी लिस्ट में शामिल किया गया है मेरे द्वारा 30 राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय रिसर्च पेपर लिखे गए हैं एवं 10 कॉन्फ्रेंस में मैंने अपने पेपर को प्रेजेंट किए हैं 10 वर्कशॉप मैंने अटेंड की है एवं मेरा रिसर्च एक्वा कल्चर लिमनोलॉजी पर है पूर्व में में राष्ट्रीय सेवा इकाई एवं रेड रिबन क्लब का अधिकारी रहा हूं अभी एक पेटेंट अपने नाम दर्ज किया है एयर पॉल्यूशन इंडिकेटर किट

कस्तूरबा ग्राम रोड इंस्टिट्यूट में सहायक प्राध्यापक प्राणी शास्त्र में कार्यरत हूं

मूल्य: रु.125/$20

978-81-970245-4-2

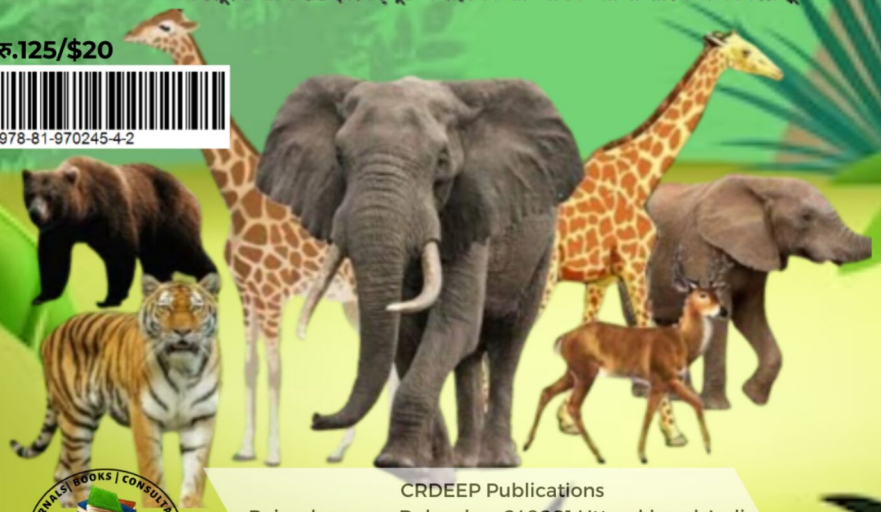

CRDEEP Publications
Rajendranagar, Dehradun, 248001 Uttarakhand, India

7895844394; editor@crdeepjournal.org

www.crdeepjournal.org

978-81-970245-4-2

First Ed. 2024

वन्यजीव और पर्यावरण

लेखक

डॉ योगेश खिची

CRDEEP Publications

978-81-970245-4-2

दिग्दर्शन पुस्तक

वन्यजीव और पर्यावरण

लेखक

डॉ योगेश खिची

CRDEEP Publications

वन्यजीव और पर्यावरण

प्रकाशक और टाइपसेटिंग और मुद्रणः सीआरडीईईपी प्रकाशन, राजेंद्रनगर, कौलागढ़ रोड, देहरादून

कवर डिजाइनरः अनिल बिस्ट

कवर प्रिंटरः सीआरडीईईपी प्रकाशन, देहरादून

प्रोजेक्ट टीमः डॉ. दीप्ति, डॉ. अक्षत, श्री तन्मय, डॉ. अंजना।

लेखक या प्रकाशक की पूर्व अनुमति के बिना इस पुस्तक का कोई भी भाग पुनः प्रकाशित, पुनरुत्पादित या पुनर्मुद्रित नहीं किया जा सकता है

मूल्यः रु.125/$20

CRDEEP Publications

प्रस्तावना

बढ़ती हुई जनसंख्या और सिकुड़ता हुआ नैसर्गिक संसाधन–आधार, तीसरी दुनिया की विकासशील अर्थव्यवस्था के प्रमुख परिदृष्यों में से है। निरन्तर बढ़ती हुई मानव–गतिविधि सभी क्षेत्रों को प्रभावित कर रही है और वन तथा वन्यप्राणि भी इसके अपवाद नहीं है। इसके परिणामस्वरूप आज वनों और वन्यप्राणियों से संबंधित जो समस्यायें मानवता के दीर्घकालीन हितों के संदर्भ में हमारे सामने हैं वे केवल ''संरक्षण'' के परम्परागत सोच से ही संबंध नहीं रखतीं बल्कि बहु–विषयी और बहु–आयामी प्रबंध–प्रक्रिया से बुनियादी रूप से जुड़ी हैं जिसमें मानवतावादी दृष्टिकोण का रेखांकन प्रमुख मुद्दा है। इस प्रसंग में श्री योगेश खिंची की पुस्तक ''वन्यप्राणि संरक्षण एवं प्रबंध तकनीक'' वन्यप्राणि प्रबंध के सिद्धांतों व प्रक्रियाओं को राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयास है।

मध्यप्रदेश की वन–सम्पदा जितनी विपुल, विषद और विशाल है उस पर आधारित वन्यप्राणियों की विविधा भी उतनी ही बहु–आयामी दिलचस्पी का विषय है। एक मूलभूत मुद्दा यह है कि जिन प्राकृतिक–रहवासों में यह वन्यजीवन उपजता, पलता, पनपता है उसे तमाम अंतर्विरोधी परिस्थितियों और हस्तक्षेपकारी अपरिहार्य अंतर्कियाओं के बावजूद एक स्वयंपोषित प्राकृतिक व्यवस्था के रूप में इस प्रकार विकसित करना है जिससे पर्यावरण, पर्यटन, ज्ञान–मनोरंजन, लोक–कल्याण आदि से संबंधित हित यथाक्रम सुनिश्चित किये जा सकें। वास्तव में ये सभी मुद्दे लोक–हित के मुद्दे में ही अन्तर्निहित हैं। इसीलिये प्राकृतिक रहवास और वन्यप्राणि प्रबंध के सोच के साथ–साथ प्रकृति–मानव संबंधों के पुनरावलोकन का मुद्दा भी अध्ययन का विषय है। आज का वन–वन्यप्राणि–प्रबंधक राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों जैसे संरक्षित क्षेत्रों के प्रबंध–विज्ञान के सिद्धांत और व्यवहारों को रेखांकित करते समय प्रकृति–मानव संबंधों को सही परिप्रेक्ष्य में रखे बिना अपने मिशन में सफल नहीं हो सकता।

भूमिका

कोई भी शास्त्र अपनी मातृ भाषा में ही सुग्राही एवं शीघ्र धारण योग्य होता है। हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकों की नितांत आवष्यकता बनी हुई है। वन्य जीव और पर्यावरण पुस्तक में भारत सरकार द्वारा प्रस्तुत हिन्दी शब्द कोष की शब्दावली का पूर्ण प्रयोग किया गया है। इस पुस्तक की रचना राष्ट्रीय षिक्षा नीति के तहत विज्ञान विषय के अंतर्गत पढने वाले सभी विष्वविद्यालय के छात्र–छात्राओं को जंगली जीव की दिनचर्या और उनका पर्यावरण से संबंध को समझाने के मुख्य उद्देष्य से की गई है। पुस्तक में जंगली जीवों और उनसे होने वाले फायदों के बारे में भी विस्तृत चर्चा की गई।

मैं धन्यवाद देना चाहता हूँ मेरे सभी आदरणीय गुरूजन, परिवारजन और मेरे सहपाठीयो का।

डॉ.योगेष खीची
सहायक प्राध्यापक, प्राणीषास्त्र
कस्तूरबाग्राम रूरल इन्स्टीट्यूट

आभार

मैं इस पुस्तक की प्रकाशन के अवसर पर समस्त उन व्यक्तियों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिनका समर्थन और सहयोग मुझे इस कार्य को सम्पन्न करने में मिला। मेरे परिवार का धन्यवाद जो मुझे हमेशा प्रेरित करता है और मेरे सपनों को पूरा करने में मेरे साथ है।

मेरे मित्रों और साथीगण का आभार जिन्होंने मुझे अपनी सलाह और मार्गदर्शन से संगठन और लेखन में सहायता की।

अंत में, मेरे पाठकों का आभार जो मेरे लेखन का समर्थन करते हैं और मेरे प्रति आत्मविश्वास को बढ़ाते हैं।

धन्यवाद ।

डॉ.योगेष खीची
सहायक प्राध्यापक, प्राणीषास्त्र
कस्तूरबाग्राम रूरल इन्स्टीट्यूट

वन्यप्राणि–संरक्षण (W.L. CONSERVATION)

विषय वस्तु – (CONTENTS)

अध्याय–1 पृ. क्र. 1–20

विषय–प्रवेश (INTRODUCTION)

1.1 वन्यप्राणि क्या हैं?

1.2 वन्यप्राणि एवं पौराणिक कथाएँ

1.3 वन्यप्राणि संरक्षण की मुख्य समस्याएँ

1.3.1 वास स्थलों का विनाश, वास स्थलों के विनाश के कारण

क) कृषि क्षेत्र में वृद्धि

ख) नदी घाटी योजनाएँ

ग) उद्योगों की स्थापनाएँ

घ) डहिया खेती

ङ) पशु चारा

च) खनिज खदानें

1.3.2 अवैध शिकार

1.3.3 संक्रामक बीमारियाँ

1.3.4 परभक्षण

1.3.5 मानव हस्तक्षेप

1.4 कुछ महत्वपूर्ण भारतीय वन्य–जीव प्रजातियां और उनका स्तर (STATUS)

1.5 वन्यप्राणियों के ह्रास के मुख्य कारण और उनका ह्रास–स्तर (संकटग्रस्त) (ENDANGERED); संकटासन्न (THREATENED) और विरल (RARE)

1.6 भारत और मध्यप्रदेश के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान एवं अभयारण्यों का संक्षिप्त वर्णन।

1.7 वन्यप्राणि संरक्षण हेतु प्रयास
राष्ट्रीय स्तर, अंतर्राष्ट्रीय स्तर, वैधानिक स्तर, प्रशासकीय स्तर,
स्वैच्छिक संस्थाओं के प्रयास।

अध्याय–2 पृ. क्र. 21–32

वन्य प्राणि–संरक्षण क्यों? (WHY W.L. CONSERVATION)

2.1 वन्यप्राणि–संरक्षण

2.2 संरक्षण के सिद्धान्त

2.3 संरक्षण की आवश्यकता

2.4 संरक्षण का पूर्व इतिहास

2.5 वर्तमान स्थिति

2.6 संरक्षण और विकास आमने–सामने

2.7 वन और वन्यप्राणि

2.8 वन्यप्राणि–उपयोगिता, मूल्यांकन,–आर्थिक, वैज्ञानिक, आखेट, पारिस्थितिकीय, सौंदर्य, नैतिक, नवीनीकरण योग्य संसाधन।

अध्याय–3 पृ. क्र. 33–56

वन्य–प्राणि–पारिस्थितिकी (W.L. ECOLOGY)

3.1 पारिस्थितिकी

3.2 वायुमंडल

3.3 पर्यावरण

3.4 जीव–जगत की संगठन संकल्पना

3.5 पारिस्थितिकी–तंत्र

3.6 ऊर्जा–प्रवाह

3.7 भोजन–श्रृंखला

3.8 पोषक–चक्र

3.9 जल चक्र

3.10 पारिस्थितिकी निकेत (NICH)

3.11 पारिस्थितिकी तंत्र का विकास

3.12 जीवीय समुदाय

3.13 जीवोम (BIOMES)

3.14 जीवीय–प्रदेश (BIOTIC PROVINCE)

3.15 संक्रमिका (ECOTONE)

3.16 जीव–मात्रा (BIOMASS)

3.17 वास–स्थल (HABITAT)

3.18 आवास परिक्षेत्र (HOME RANGE)

3.19 आवास परिसर (TERRITORY)

3.20 अभिगमन (MIGRATION)

3.21 परिक्षेपण (DISPERSAL)

अध्याय–4 पृ. क्र. 57–82

समष्टि–गुणधर्म (ATTRIBUTES OF POPULATION)

4.1 समष्टि

4.2 धारण क्षमता की संकल्पना (CONCEPT OF CARRYING CAPACITY)

4.3 समष्टि अभिलक्षण

घनत्व और जीव भार, निर्वाह घनत्व, इष्टतम घनत्व, सुरक्षा–घनत्व, सह्य घनत्व

समष्टि–संरचना, सामाजिक संगठन, प्रसवदर, (NATALITY)

संग्राह–आकार (CLUTCH SIZE) प्रजनन सूत्र (BREEDING SEASON) लिंग अनुपात, मृत्यु–दर, परिक्षेपण–दर, विक्षेपण, वृद्धि–रूप।

4.4 समष्टि अभिलक्षणों की अंतर्क्रिया (INTERACTION OF POPULATION, CHARACTERISTIC)

4.5 आखेट योग्य अधिशेष (SHOOTABLE SURPLUS)

4.6 समष्टि उच्चावचन परिघटना (POPULATION FLUCTUATION PHENOMENON)

1. स्थिर समष्टि
2. चक्रीय समष्टि
3. अविधानी समष्टि

4.7 उत्पादकता (PRODUCTIVITY)

अध्याय–1

विषय–प्रवेश (INTRODUCTION)

अभी तक की जानकारी के अनुसार सौरमंडल के सभी ग्रहों में पृथ्वी ही केवल एक ऐसा ग्रह है जिसमें जीवन को सम्भालने और बनाये रखने की क्षमता हैं। जीवन–तंत्र की इष्टतम–प्रति–पालित–उत्पादकता (Optimum Sustainable-Productivity) को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए हमें पृथ्वी के पर्यावरण के रूप में जल, वायु, भूमि, सूर्य का प्रकाश और जीवाष्म जैसे संसाधन प्राप्त हैं। परन्तु पृथ्वी के इन संसाधनों का उपभोग और अपव्यय इतना बढ़ गया हैं कि निकट भविष्य में ही मनुष्य जाति के समक्ष दूषित वातावरण, डावांडोल पारिस्थितिकी–तंत्र (Ecosystem) एवं बच रहे सीमित संसाधनों के उपयोग की आपाधापी के कारण मानव जीवन के अति कष्टमय होने की पूरी–पूरी आशंकाएँ मौजूद हैं।

हमारा देश एक विकसित देश हैं। विकास की दिशा और गति क्या हो, यह एक महत्वपूर्ण विषय हैं। पर्यावरण, पारिस्थितिकी एवं जीवन–पोषण–तंत्र की कीमत पर हम विकास नहीं चुन सकते। हमें दोनों की ही आवश्यकता हैं। पर्यावरण, पारिस्थितिकी एवं जीवन–पोषण–तंत्र के संतुलन में नवीनीकरण योग्य संसाधन अर्थात् जीवधारियों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान हैं। भारतीय चिंतक इनका महत्व यजुर्वेद के जन्म काल से ही जानते आये हैं। सृष्टि में सुख और शांति के लिए वायु–शांति, पृथ्वी–शांति, जल–शांति, वनस्पति–शांति आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिलता हैं।

हमारे देष में भी प्रतिभा एवं विशेषज्ञों की कमी नहीं हैं लेकिन आवश्यकता हैं सभी पहलुओं को एक साथ सोच–विचार कर योजनाएँ क्रियान्वित करने की। एक इंजीनियर एक बहुत बड़ा हाइड्रो इलेक्ट्रिक प्रोजेक्ट तैयार कर सकता है, उससे कितनी बिजली मिलेगी, कितने एकड़ कृषि में सिंचाई हो सकेगी, आदि वह बता सकेगा। लेकिन इस प्रकार के प्रोजेक्ट अथवा अन्य मानव–कृतियों (Artifects) का मानव जीवन पर, पर्यावरण पर और पारिस्थितिकी–तंत्र पर क्या दुष्प्रभाव होगा, इस जानकारी का समावेश यदि वह नहीं कर सकता, तो ऐसे विकास से मानव का अहित ही अधिक होने की आशंकाएँ प्रबल हैं। अतः विकास की योजनाओं के साथ–साथ हमें अपने पर्यावरण और जीवन–पोषण–तंत्र की सुरक्षा एवं संरक्षण को भी ध्यान में रखकर आगे बढ़ना होगा। विज्ञान के विकास ने मानव जीवन को अनेक भौतिक सुख उपलब्ध कराये, लेकिन इस दौड़ में मानव प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धों को भूल गया और अपने ऐश्वर्य साधनों को जुटाने के लिए उसने धरती को नंगा करने में भी कोई कसर नहीं रखी। विकास की अंधी दौड़ में हमने प्रकृति का शीतल आंचल न केवल त्याग दिया, बल्कि उससे झगड़ा मोल ले बैठे हैं। फलस्वरूप आज मानव संख्या के समक्ष पूरा जीवन–पोषण–तंत्र ही बौना दिखाई देने लगा हैं। ब्रितानिया शासकों के समय में वनों को आय का मुख्य स्त्रोत बना दिया गया। वर्ष 1800

में पहली बार वैज्ञानिक पद्धति से इनका दोहन प्रारम्भ हुआ। वर्ष 1806 में मद्रास प्रेसीडेन्सी में सर्वप्रथम एक वन संरक्षक की पदस्थिति की गई और 1847 में बम्बई में भी एक प्रसिद्ध वनस्पति वैज्ञानिक को वन संरक्षक नियुक्त किया गया। वर्ष 1855 में वन विभाग का प्रशासनिक ढांचा तैयार हुआ और 1864 में सर ब्रांडिस को प्रथम वन महानिरीक्षक बनाया गया।

सन् 1919 से 1947 तक का समय सत्ता–हस्तांतरण का समय रहा, और 1952 में स्वदेशी सरकार ने नई वन–नीति की घोषणा की। अनेक कारखानों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने, अनेकों लोगों की रोजी–रोटी उपलब्ध कराने के लिए पिछले तीन दशकों में पुरानी वनोत्पादन व सम्वर्धन की विधियों और पद्धतियों के स्थान पर अब नई और तेजी से बढ़ने वाले वनों के सम्वर्धन की नीतियां छा गई हैं। वनों के दोहन के लिए वन–विभाग के अतिरिक्त राज्य वन विकास निगमों को भी लगा दिया गया। परन्तु अब तक इतनी क्षति हो चुकी थी कि वनों की हालत दयनीय हो गई थी और वन्यप्राणि समाप्ति के कगार पर खड़े थे। जंगल केवल पहाड़ियों और खड़ी ढलानों पर ही बच गये थे। गेंडा केवल आसाम में, सिंह केवल गुजरात के गिर वनों में, और शेर, बारासिंघा, हाथी, चौसिंघा, चिंकारा, कालाहिरण जंगली भैसा बस कहीं–कहीं बच गये थे। चीता आदि कुछ तो समाप्त ही हो चुके हैं।

यह जानते हुए भी कि वनों से हमारे पर्यावरण में बहु–आयामी सुधार होता है, मृदा और जल–संरक्षण होता है, वन अनेकों–अनेक उद्योग धंधों के लिए अनवरत कच्चा माल उपलब्ध कराते हैं, मानव–कृतियों से उत्पन्न प्रदूषण को स्वच्छ करते हैं, बाढ़ रोकते हैं, नदियों में अनवरत जल उपलब्ध कराते हैं, उपजाऊ मिट्टी को बहने से रोकते हैं, नदियों, नालों, तालाबों, झीलों और बांधों को शीघ्र उथला हो जाने से रोकते हैं, आंधी–तूफान की गति नियंत्रित करते हैं, रेगिस्तान को फैलने से रोकते हैं, हमारी इमारती लकड़ी की आवश्यकता को पूरा करते हैं। कागज, माचिस, कपूर, रेजिन, बीड़ी, प्लाइवुड, रेयान, सिल्क, कोयला, वीनीयर, फाइबर, कार्क, चमड़ा, तेल, सुगंधियाँ, टेंनिंग सामग्री, रंग, गोंद, रबर, मसाले, लाख, शहद, मोम, सींग और अन्य प्रकार की दवाईयां वन और वन्यप्राणि उत्पादों से प्राप्त होती हैं। फिर भी हमने हमेशा इन जंगलों को केवल अपने स्वार्थ के लिए भारी क्षति पहुंचाई है और इस कोष के लिए ऐसे उपयोग की व्यवस्था नहीं की गई, ताकि इन साधनों का नवीनीकरण (Renewal) होता रहे और हमारा कोष यथावत् रहे। केपिटल रिसोर्स तैयार करना ही वास्तविक विकास है। वर्ष 1900 से 1980 तक जिस अनुपात में जंगल घटे उसी अनुपात में वातावरण में कार्बन डाई–आक्साईड गैस की मात्रा बढ़ी। एक व्यक्ति जितनी कार्बन डाई–आक्साईड एक महीने में वातावरण में छोड़ता है, उतनी ही कार्बन डाई–आक्साईड एक कार एक घंटे में और इसका एक हजार गुणा, एक जेट विमान यह जहर हमारे वातावरण में घोल देता है। वन ही इस गैस से मुक्ति दिलाने के लिए आगे आते हैं और अपनी कार्बन साइकल प्रक्रिया के फलस्वरूप इसे कार्बोहाइड्रेट्स और आक्सीजन में बदल देते हैं। जो पुनः शाकाहारी प्राणियों को कन्द–मूल, फल–फूल आदि के द्वारा ऊर्जा–स्त्रोत के रूप में प्राप्त होती हैं। आज

हम प्रति मिनट 20 हेक्टर वन क्षेत्र खो रहे हैं, और प्रतिदिन वनस्पति की एक प्रजाति लुप्त हो रही है। यदि वनों के प्रति हमारा यही दृष्टिकोण रहा तो वह दिन आज से केवल 50 वर्ष ही दूर है, जब हमारे पास कहीं भी जंगल नहीं होंगे, नंगी पहाडियां और नाराज़ मौसम इस बौने मानव के दुर्भाग्य पर अट्टाहास करता दिखायी देगा। वनों में आये दिन होने वाले अतिक्रमण, अवैध–कटाई, अवैध–चराई, अवैध–शिकार और वनों का अपरिमित दोहन हमें तत्काल रोकना होगा, अन्यथा मानव–जाति को महाप्रयाण की तैयारी करनी होगी।

मार्च, 1980 में विश्व संरक्षण व्यूह–रचना (युक्ति) (World Conservation Strategy) के प्रमोचन के अवसर पर स्व. प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था–

"The interest in conservation in not sentimental one but the rediscovery of a truth well-known to our ancient sages. The Indian tradition teaches us that all forms of life-human, animal and plant-are so closely interlinked that disturbance in one gives rise to imbalance in the other..... Nature is beautifully balanced. Each little thing has its own place, its duty and special utility. Any disturbance creates a chain reaction which may not be visible for some time. Taking a fragmentary view of life has created global and national problem."

1.1 वन्यप्राणि क्या हैं?

इस पृथ्वी पर पाये जाने वाले सभी प्राणी मूलतः वन्यप्राणि ही थे। समय के साथ–साथ मानव अपनी बुद्धि और कौशल के विकास के साथ–साथ एक विशिष्ट वर्ग के रूप में उभरा और शनैः शनैः उसने कुछ अन्य उपयोगी वन्यप्राणियों को भी पालतू बनाया। इस प्रकार प्राणि जगत में पालतू और अपालतू के वर्ग निर्मित हुए और मनुष्य को छोड़कर ऐसे सभी प्राणि जो पालतू नहीं हैं उन्हें वन्य–प्राणि की संज्ञा दी गई। अर्थात् प्राकृतिक वास में पाये जाने वाले प्राणियों को वन्य–प्राणि कहते हैं। अधिक व्यापक और वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार वे सभी जीव एवं वनस्पति (Flora and Fauna) जो उनके प्राकृतिक–वास में प्राकृतिक रूप में पाई जाती हैं, वन्यप्राणि कहलाती हैं।

पृथ्वी का पर्यावरण चार मुख्य तत्वों से मिलकर बना है – भूमि, जल, वायु और प्राणि जगत। प्रथम तीन तत्व मिलकर **''भौतिक–पर्यावरण''** कहलाते हैं और चौथा अर्थात् प्राणि–वर्ग **''जैविक–पर्यावरण''** कहलाता है। भौतिक–पर्यावरण तो विभिन्न जीव–जन्तुओं के अस्तित्व के लिए आवश्यक है ही, परन्तु पृथ्वी पर जीवन–पोषण–तंत्र के अनवरत चक्र के लिए जैविक–पर्यावरण भी उतना ही आवश्यक है। इस प्रकार जीवन–पोषण–तंत्र मनुष्य के अस्तित्व का अविभाज्य अंग है।

पारिस्थितिकी–तंत्र के मनुष्य जीवन पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष क्या प्रभाव पड़ते हैं, यह अभी तक पूरी तरह ज्ञात नहीं हो सका है, परन्तु इतना स्थापित हो चुका है कि वन्य–प्राणियों का अस्तित्व भी मानव–जाति के अस्तित्व के लिए आवश्यक है।

1.2 वन्य–प्राणि एवं पौराणिक कथाएँ

हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मों में वन्य–प्राणियों का विशेष उल्लेखनीय स्थान रहा है। हिन्दू और बौद्ध धर्म का तो मूल आधार ही यह है, कि आत्मा समस्त प्राणियों में विचरण करते हुए मानव–योनि और फिर मोक्ष–योनि में जाती है। सिन्धु–घाटी की सभ्यता (2500 ईसा पूर्व) में हाथी, शेर, गेंडा, नीलगाय, बन्दर, कालाहिरण, गरूड़ तथा बाज पक्षियों की मूर्तियाँ पाई गई हैं। जब आर्य–सभ्यता का विकास हुआ तो उनके समय में अनेक प्राणियों को उन्होंने पालतू बनाया तथा अनेक प्राणियों का सम्बन्ध अपने देवी–देवताओं के साथ स्थापित करके पूजा–अर्चना की। भगवान विष्णु के मत्स्य (मछली), कूर्म (कछुआ), और वराह (सूअर) के रूप में अवतार लेने की मान्यताएँ प्रचलित हैं। गणेश देवता को हाथी के स्वरूप में प्रत्येक शुभकार्य के प्रारम्भ में पूजा जाता है। देवी–देवताओं को भी वन्य–प्राणियों से अत्यंत अनुराग रहा है, जैसे शंकर भगवान के गले में हमेशा नाग सुशोभित रहता है। देवी दुर्गा (काली) का वाहन बाघ, शंकर भगवान का वाहन नन्दी (बैल), ब्रम्हा का वाहन हरिण, विष्णु का गरूड़, सरस्वती का हंस, कार्तिकेय का मयूर, अग्नि देवता का बकरा, वरूण देव का कछुआ, वायु देवता का चिंकारा तथा चन्द्रमा का वाहन हरिण माना गया है। इन्द्र भगवान ऐरावत हाथी पर सवारी करते हैं और गंगा–जमुना कछुये और मगर पर सवार मानी गई हैं। काम–देव की मछली और रति की तोते के रूप में तथा महिषासुर की भैंसे के रूप में कल्पना की गई है। बन्दरों और लंगूरों को भी राम के सैनिक होने का गौरव प्राप्त है। वीर हनुमान देवता लंगूर के स्वरूप में ही पूजित है। जाम्बवंत भालू ने भी ईश्वर की अपूर्व सेवा करके भालू–जाति के लिए सम्मान अर्जित किया था। इसी प्रकार नाग और गज (हाथी) के विषय में बौद्ध और जैन धर्म में भी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं। वैदिक युग में ईसा से 2500 वर्ष पहले तथा रामायण काल में महर्षि वाल्मीकि ने वनों और वन्य–प्राणियों के विषय में अरिष्ठ पर्वत तथा दण्डकारण्य सौपान में लिखा है एवं वृष, मेष, वृश्चिक आदि राशियों में, विभिन्न प्राणियों का स्वरूप मान्य किया गया है। मनु ने कहा है कि जहां चीतल और हरिण का वास होगा वहां दुरात्मा का प्रवेश नहीं हो सकता। इसी कारण महात्मागण मृगछाला पर बैठकर पूजार्चना किया करते हैं।

ऐसा मान्यता है कि यदि हाथियों के शरीर पर चन्दन लगाकर बस्ती में जुलूस निकाला जावे तो वर्षा हो जाती है। हाथी को अत्यन्त बलशाली होने के साथ–साथ बहुत बुद्धिमान भी माना जाता है। कहते हैं, महाराज चन्द्रगुप्त को युद्धों में मिली सफलताओं का श्रेय उसके चमत्कारी हाथी ही को जाता है। कबूतर को शांति का प्रतीक माना गया है। बाघ और शेर को शौर्य–बल का प्रतीक माना गया है और इसलिए अनेक महाराजाओं के सिंहासनों में इन प्राणियों को प्रतीक रूप में दर्शाया जाता था। इस

प्रकार हम देखते हैं, कि हमारे धर्म, संस्कृति, सभ्यता और दैनिक–गतिविधियों में वन्यप्राणियों का हमेशा एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। भगवान कृष्ण मोर पंख को अपने मस्तक पर सुशोधित करते थे, क्योंकि मोर सम्पन्नता का प्रतीक माना गया है, मोर जब नाचता है तो वर्षा होती है, वर्षा अन्न की वृद्धि करती है और मोर जाति की प्रजनन क्षमता भी बहुत अधिक होती है जो फलने–फूलने की तीव्र–गति का प्रतीक है।

1.3 वन्य–प्राणि–संरक्षण की मुख्य समस्याएँ

वन्य–प्राणि–संरक्षण की समस्या के मूल में ऐसी परिस्थितियाँ मुख्य होती हैं जिनके कारण वन्य–प्राणि–समष्टि (W.L. Population) की प्रसव–दर में कमी आये अथवा मृत्युदर में वृद्धि हो जाय। प्रसव–दर में कमी होने या मृत्युदर में वृद्धि होने के निम्न मुख्य कारण हैं:–

1.3.1 वास–स्थलों का विनाश

वन्य–प्राणियों के प्राकृतिक वास–स्थलों के विनाश के कारण प्रसव–दर कम हो जाती है और मृत्यु–दर बढ़ जाती है, तथा उस क्षेत्र की समष्टि शनैः शनैः समाप्त हो जाती है। मेकआर्थर और विलसन (1967) तथा जोहन टरबोर्ग और व्लेयरविन्टर (1979) ने यह निष्कर्ष भी निकाला है, कि बहुत छोटे–छोटे आकार के क्षेत्रों में अच्छा वास–स्थल होने के बावजूद भी वन्य–प्राणियों की संख्या लगातार गिरती जाती है, और अंततः विलुप्त हो जाती है। अतः यह मानकर चलना भी खतरे से खाली नहीं है कि कम से कम हमारे राष्ट्रीय उद्यानों तथा अभयारण्यों में तो हम वन्य–प्राणियों का संरक्षण अवश्य ही कर पायेंगे। यदि हमारे राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों के क्षेत्रों को उनके समीप के वनाच्छादित भूभाग से अलग–थलग कर दिया गया या वनाच्छादित भू–भाग से ये अभयारण्य हरित–मार्ग (Green Corridor) से जुड़े नहीं रहें तो इन सुरक्षित क्षेत्रों में भी हम वन्य–प्राणियों का संरक्षण एवं सम्वर्धन नहीं कर पायेंगे। वांछित क्षेत्रफल की तुलना में जब वन्य–प्राणि समष्टि को बहुत छोटे आकार के क्षेत्र में रहने के लिए बाध्य किया जाता है, तो उनकी संख्या घटती जाती है और अंत में घटी हुई संख्या स्वयं एक सुभेद्य (Vulnerable) स्थिति होती है।

वास–स्थलों के विनाश के कारण :–

वनाच्छादित क्षेत्रों में कमी आना अथवा उनके प्राकृतिक स्वरूप को छिन्न–भिन्न कर देना, प्राकृतिक वास–स्थलों के विनाश का मुख्य कारण है। श्री. ए. अग्रवाल संचालक, सेन्टर फार साइंस एण्ड एनवायरेनमेंट नई दिल्ली के अनुसार भारत की लगभग 1500 लाख हेक्टर भूमि प्रति वर्ष रेगिस्तान में तेजी से बदलती जा रही है। प्रत्येक हेक्टर भूमि की लगभग 20 टन मृदा प्रति वर्ष नष्ट हो जाती है। 40 लाख हेक्टर भूमि पहले ही बीहड़ों में बदल चुकी है।

विश्व के क्षेत्रफल की तुलना में भारत का क्षेत्रफल केवल 2% ही है और भारतवर्ष में विश्व की कुल जनसंख्या की 15 प्रतिशत से अधिक जनसंख्या रहती है, परन्तु विश्व के वनों का केवल 2 प्रतिशत वन हमारे देश में बचे हैं। पिछले 3–4 दशकों में ही हमारे देश में प्रति व्यक्ति 0.2 हेक्टर वनक्षेत्र, घटकर आधा, अर्थात् 0.1 हेक्टर प्रति व्यक्ति रह गया है। एक सर्वेक्षण के अनुसार अब हमारे देश में कुल भू–भाग का केवल 12 प्रतिशत वनक्षेत्र शेष है, जबकि हमारी वन नीति के अनुसार यह 33 प्रतिशत होना चाहिए। उपरोक्त आंकड़ों से स्पष्ट है कि हमारे वनों पर कितना भारी बोझ है और प्राकृतिक–सम्पदा के मान से हम तीन–चार दशकों में ही बहुत निर्धन हो गये हैं। पिछले एक दशक में ही हमने कृषि–भूमि के लिए 25,06,900 हेक्टर, नदी–घाटी योजनाओं के लिए 4,79,000 हेक्टर, उद्योगों की स्थापना के लिए 1,27,000 हेक्टर, सड़कों के लिए 57,000 हेक्टर और अन्य कार्यों के लिए 96,540 हेक्टर वनक्षेत्र खोया है। अकेले मध्यप्रदेश में लगभग 20 लाख हेक्टर वनक्षेत्र का विभिन्न कारणों से निर्वनीकरण किया गया जो अन्य राज्यों की तुलना में सर्वाधिक है।

नेशनल रिमोट सेंसिंग एजेन्सी के एक सर्वेक्षण के अनुसार राज्यवार वनक्षेत्र में आई कमी पृष्ठ क्र. 5–6 तालिका 1.1 में दर्शायी गई है। वनक्षेत्र में कमी के लिए निम्न परिस्थितियां उत्तरदायी हैं।

(क) कृषि–क्षेत्र में वृद्धि

भारत एक कृषि–प्रधान देश है। पिछले तीन दशकों में ''अधिक अन्न उपजाओं'' के नारे के साथ अपनी लगभग 250 लाख हेक्टर ऐसी भूमि, जो राजस्व अभिलेखों में तो पड़ती–भूमि थी, परन्तु वास्तव में किसी न किसी रूप में वनाच्छादित थी, को निर्वनीकरण करके खेती के अन्तर्गत ले आये और इस भूमि से होने वाली निस्तार और चराई आदि का बोझ हमारे संरक्षित वनों पर आ पड़ा। वनों में भी खेती अथवा रहने के उद्देश्य से भारी मात्रा में अतिक्रमण हुए और खेती को अधिक महत्व देते हुए ये अतिक्रमण वर्ष दर वर्ष नियमित अधिकार–पत्र में बदलते गये। परिणामस्वरूप पिछले एक दशक में ही हमने 25,06,900 हेक्टर क्षेत्र कृषि–भूमि के लिए अंतरित कर दिया।

(ख) नदी–घाटी योजनाएँ

सिंचाई एवं ऊर्जा प्राप्ति के उद्देश्य से अनेक बड़ी–बड़ी नदी–घाटी योजनाएँ हमारे बहुत बड़े वन–भू–भाग को निगल गई। लगभग 1500 बड़े बाधों पर अनुमानित 10 लाख करोड़ रूपये खर्च करने के बाद भी 2 टन प्रति हेक्टर से अधिक उपज नहीं बढ़ाई जा सकी है। (''ए. अग्रवाल संचालक सी.एस. ई. (नई दिल्ली), जर्नल आफ ट्रापीकल फारेस्ट्री 1988 बोल्यूम चार–(तीन)'')

इन योजनाओं से होने वाले लाभों को बढ़ा–चढ़ाकर दिखाया गया और वनों के विनाश तथा पारिस्थितिकीय–क्षति को कम करके आंका गया है। इन योजनाओं में वास्तविक डूब–क्षेत्र के अलावा सड़क, कार्यालय, आवास एवं श्रमिक–शिविरों की आवश्यकता का बोझ भी वनों को उठाना पड़ता है।

नदी–घाटी योजनाओं के लिए पिछले दो दशकों में ही 4,79,000 हेक्टर वनक्षेत्र का निर्वनीकरण हो चुका है और खतरा अभी भी मंडरा ही रहा है। अनेक बड़ी योजनाएँ अभी भी विचाराधीन या प्रगति पर हैं।

(ग) उद्योगों की स्थापना

वनों पर आधारित उद्योगों जैसे प्लाइवुड, पेपर, माचिस, रेजिन, पैकिंग केसिस, आदि में कच्चे माल के रूप में भारी मात्रा में वनोत्पादों का उपयोग तो किया ही जाता है, इन उद्योगों की स्थापना में भी अनेक वन–क्षेत्रों को सिकुडना पड़ा और 1,27,000 हेक्टर वनक्षेत्र उद्योगों की स्थापना के लिए निर्वनीकृत हो गया। उदाहरणार्थ अकेले नेपा पेपर मिल की स्थापना हेतु 1900 हेक्टर रक्षित वन खाली किया गया था जो अभिलेखों में अभी भी वन अंकित है और इस मिल द्वारा कच्चे माल के रूप में 1.50 लाख मी. टन बांस और लगभग 50,000 मे. टन लकड़ी प्रति वर्ष कागज बनाने में खर्च होती है।

(घ) डहिया खेती

लगभग 6.5 लाख अनुसूचित जनजाति परिवार आज भी प्रतिवर्ष स्थान बदलकर खेती करने की परम्परा से बंधे हुए है। यद्यपि डहिया खेती करने के इस चलन में बार–बार नये स्थानों पर खेती करने या पुराने खेतों को कुछ सालों तक पड़ती रखकर फिर खेती करने के कारण कृषक को तुलनात्मक रूप से थोड़ी अधिक उपज प्राप्त हो जाती है, परन्तु वन–क्षति, भूक्षरण एवं अन्य अनेक पर्यावरणीय समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं और जंगलों का क्षेत्र दिन प्रतिदिन घटता जाता है। उष्ण कटिबंधीय वनों में तो डहिया खेती के लिए उजाड़े गये वन पुनर्स्थापित करना अत्यंत कठिन कार्य होता है। जिसका विवरण कंडिका 3.8 में आगे किया गया है।

(च) पशु चारा

विश्व से समस्त पालतू पशुओं की संख्या के 15 प्रतिशत से भी अधिक पालतू पशु हमारे देश में हैं। जबकि विश्व के क्षेत्रफल की तुलना में भारत का क्षेत्रफल केवल लगभग 2 प्रतिशत ही होता है। अतः स्वाभाविक है कि इस अत्यधिक पशु–संख्या का असहनीय बोझ हमारे वनों पर भी पड़ेगा और प्राकृतिक–वासों का विनाश होगा।

(छ) खनिज खदानें

हमारी अधिकतर खदानें वन–भूमि पर ही स्थित हैं। बाक्साइट, लौह, अभरक, चूना, पत्थर, सीसा, जस्ता, एसबेस्टस, जिप्सम, ताम्बा आदि की खदानों के लिए लाखों हेक्टर वन–भूमि दे दी गई है और पुनः वनक्षेत्र कम होते जा रहे हैं। देश की कुल खनिज सम्पदा का आधे से अधिक भाग देश के मध्य और पूर्वी क्षेत्रों के 40 संलग्न जिलों से प्राप्त होता है जिसके कारण एक बहुत बड़ा वनक्षेत्र निर्वनीकृत हो गया है और सैकड़ों गाँव उजड़ गये हैं।

1.3.2 अवैध शिकार

वन्य–प्राणियों के मांस, हड्डी, सींग, खालें और अन्य वस्तुओं की तस्करी के कारण हमारे वनों में आज भी अनेक तरीकों से अवैध शिकार किया जाता है। यद्यपि ऊपर से यह स्थिति इतनी भयावह नहीं लगती लेकिन वास्तविकता यह है कि वन्य–प्राणियों के अवैध व्यापार में अनेक असामाजिक तत्व लिप्त हैं और यह व्यापार लाखों डालर में होता है। वर्ष 1974 में अकेले कोलम्बिया ने 50 लाख अमरीकी डालर की कीमत की ऐसी वन्य–प्राणि खालों का निर्यात किया जिनको कोलम्बिया में संकट ग्रस्त प्रजाति माना गया है। थाईलेंड देश में वर्ष 1967–68 में 5,47,000 चिड़ियाँ, 31,000 स्तनधारी तथा 42,000 सरीसृप प्राणियों के व्यापार में 19 लाख डालर प्राप्त हुए। सन् 1968 में अमेरिका ने 1300 चीते, 9,600 तेन्दुए, 13,500 जगुआर और 1,29,000 ओसलोट की खालों का आयात किया था। (किंग 1978) वर्ष 1976 में हाथी–दांत की क्रय दर 35 डालर प्रति पौंड और तेन्दुएं की एक खाल की कीमत 200 डालर तक थी। अनेक वन्य–प्राणियों के अनेक हिस्सों से निर्मित विभिन्न प्रकार की दवाईयों, इत्र एवं तेलों के भाव अंतरराष्ट्रीय बाजार में सोने से भी महंगे हैं, जिसके कारण इनका अवैध शिकार होता रहता है। गेंडा भी इन अभागे प्राणियों में से एक है। अवैध शिकार की समस्या पर निश्चित ही ठोस कार्यवाही करनी आवश्यक है।

1.3.3 संक्रामक बीमारियाँ

क्योंकि हमारे वनों में अनेक बीमारियों से ग्रस्त पालतू पशु बेरोक–टोक चरने आते है अतः इन पशुओं की बीमारियां वन्य–प्राणियों में भी फैल जाती हैं और स्वतंत्र विचरण करने वाले इन प्राणियों में बीमारी का पता लगाना और उनका इलाज करना संभव नहीं हो पाता। परिणाम यह होता है कि जब पूरी समष्टि (Population) में बीमारी फैल चुकी होती है और अनेक प्राणी मर चुके होते हैं, तब कहीं हमें बीमारी का ज्ञान होता है। ऐसी संक्रामक बीमारियों में ब्लेक क्वार्टर, एन्थ्रेक्स, रेबीज, फुट एंड माउथ आदि प्रमुख हैं। महाराष्ट्र के एतुर नगरम अभयारण्य में वर्ष 1978 में एक संक्रामक रोग रिंडरपेस्ट के कारण वहां की पूरी गौर–समष्टि समाप्त हो गई थी।

1.3.4 परभक्षण

यद्यपि परभक्षण (Predation) भोजन–श्रृंखला में ऊर्जा–हस्तांतरण की एक शाश्वत प्रक्रिया है, परन्तु किसी–किसी पारिस्थितिकी तंत्र में किसी विशिष्ट कारण से, विकार–स्वरूप, परभक्षण की मात्रा अत्यधिक हो जाती है, जो उस प्रजाति के संरक्षण में बाधक बन जाती है। अतः परभक्षण की मात्रा इष्टतम (अनुकूलतम) से अधिक नहीं होनी चाहिए।

1.3.5 मानव हस्तक्षेप

वन्य–प्राणियों के प्राकृतिक–वासों में मानव–हस्तक्षेप भी विकास की अनेकानेक योजनाओं के संचालन के कारण बहुत अधिक बढ़ गया है। वनों से इमारती लकड़ी, जलाऊ लकड़ी, तेन्दु–पत्ता संग्रहण, उद्योगों के लिए कच्चा माल तथा लघुवनोपजों के संग्रहण कार्यों के अहर्निश चलते रहने से वन्य–प्राणियों के आवागमन और अन्य क्रिया–कलापों पर प्रतिबंध लग जाता है जिससे उनकी वंश–वृद्धि रूक जाती है और उत्पादकता कुप्रभावित होती है।

1.4 कुछ महत्वपूर्ण भारतीय वन्य–जीव प्रजातियाँ

आज भी विभिन्न भारतीय पारिस्थितिकी तंत्रों में विविध प्रकार के सुन्दर एवं विचित्र जीवों की पर्याप्त संख्या उपलब्ध है। लगभग 50 स्तनपायी, 1200 पक्षी, 350 सरीसृप और 29,70,000 कीट पतंगों की प्रजातियाँ भारत में उपलब्ध हैं।

हाथी, गेंड़ा, भालू, कस्तूरी मृग, कोटरी (बार्किंग डीयर) चीतल, हॉग–हिरण, माउस डीयर, बारासिंघा (स्वाम्प डीयर) साम्बर, थामिन, हॉगुल (काश्मीर–स्टेग) चौसिंघा, चिंकारा (इंडियन गजेल), नील गाय (ब्ल्यू बुल), कृष्ण मृग (ब्लेक बक), गौर (बाइसन), जंगली–भैसा (वाइल्ड़ बफेलो), आइवेक्स, जंगली सूअर (वाइल्ड़ बोर), घोर खर (वाइल्ड़ आस) नील गिरी तहर, सिंह, शेर (बाघ), तेन्दुआ, भेड़िया (बुल्फ), लकड़बग्घा (हायना), ढोल (सोन कुत्ता) (वाइल्ड डॉग), नील गिरी लंगूर, लायन टेल्ड मकाक (शिया–बंदर) (बंदर) लाल मुंह का बंदर या रिसस मकाक, लंगूर (हनुमान मंकी), भारतीय विशाल गिलहरी (इंडियन जायंट स्कवायरल), सेही, पेंगोलिन, मोर, वन मुर्ग (जंगल फाउल) तीतर, बटेर, हुकना (ग्रेट इंडियन बस्टर्ड) बत्तखें, कबूतर, सारस, बगुले, जांघिल (स्टोर्क) हंस, हार्नबिल (धनेश), मगर घडियाल, गोह (लिजार्ड) एवं सांपों की लगभग 216 प्रजातियों की विविधता के साथ भारत में अन्य अनेक दुर्लभ वन्यप्राणि पाये जाते हैं। भारतीय उप महाद्वीप में पाई जाने वाली लगभग 500 स्तनपायी जीवों की प्रजातियों में उपरोक्त के अतिरिक्त उलक (हुलुक), बोनट बंदर, शर्मिंदी बिल्ली (स्लोलोरिस), स्लेन्डर लोरिस, बर्फानी तेन्दुआ (स्नोलेपर्ड) अमचीता या बादली चीता (क्लाउडिड लेपर्ड) मार्बल केट, सुनहरी बिल्ली (गोल्डन केट), लेपर्ड केट, फिसिंग केट, जंगली बिल्ली, डेजर्ट केट, शियागोश (कराकल) लिंक्स, टाइगर–सिवेट, कट्टस (लार्ज इंडियन सिवेट), कस्तूरी (स्माल इंडियन सिवेट), लकाटी (पाम–सिवेट), बिन्टुरंग, नेवला, शियार (जकाल), लोमड़ी, भूरा भालू, हिमालयन काला भालू, लाल पंडा, ऊदबिलाव (कामन आटर), जल मानुस, (स्मूथ इंडियन आटर) चितरोला मार्टिन, बला सूअर (हॉग बेजर, बेयर–पिग) बिज्जू (रटेल), छछून्दर (ग्राउंड श्रू), चमगादड (बैट), चूहे और मूसे (रेट और माइस) खरगोश, याक, उरियल (शापू) नायन (ग्रेट तिवतन शीप), भरल (ब्ल्यू शीप), वाइल्ड गोट (सराह), मारखोर, गोरल, ताकिन और मगरमच्छ (ब्ल्यूव्हेल) तथा सिशुक (गैंजैटिक डालफिन) जैसे अति सुन्दर और विचित्र प्रकार के प्राणी भारत के विविध प्रकार के पारिस्थितिकी तंत्रों में पाये जाते हैं । कुछ वन्य जीवों के आवास तथा शारीरिक संरचना के विषय में जानकारी संकलित की गई है।

भारत के 55 राष्ट्रीय उद्यानों और 247 अभयारण्यों में उपरोक्त अनेक वन्य–प्राणियों को देखे जाने की अपार संभावनाएँ उपलब्ध हैं। उत्तर पूर्व के नामदाफा राष्ट्रीय उद्यान में बर्फानी तेन्दुआ (स्नो–लेपर्ड) अभी भी देखा जा सकता है। मानस अभयारण्य में आकार में दुनिया के सबसे बड़े एक सींग वाले प्रख्यात गेंड़ों के दर्शन किये जा सकते हैं। नन्दा देवी अभयारण्य में हिमालय के अनेक जीव उपलब्ध हैं। बान्दा और वाराणासी के पास मैदानी क्षेत्र के जीवों के लिए रामपुर और चन्द्र प्रभा–अभयारण्य, पठारी पक्षियों के लिए करनाला (रायगढ़) और हुकना के लिए अहमद नगर का अभयारण्य उत्तम स्थान हैं। हांगुल के लिए डचिगाम (श्री नगर कश्मीर) से प्रारंभ करंके कार्वेट, दुधुवा, जलदापारा काजीरंगा, पालामउ, सिमलीपाल, कान्हा, बान्धवगढ, इन्द्रावती, बोरी, मेलघाट, तड़ोबा, नागार्जुन सागर, बन्दीपुर मुधुमलाई, नागरहोल, पेरियार, सरिस्का और रणथम्भोर आदि ऐसे प्रमुख स्थान है जहां अलग–अलग पारिस्थितिकी तंत्र के प्रतिनिधि–वन्य जीवों से साक्षात्कार किया जा सकता है।

विचित्रताओं और मनोहारी विविधताओं से परिपूर्ण भारतीय वन्य–जीव–जगत के प्राकृतिक इतिहास के अनेक पहलू आज भी अनबूझे और रहस्यमय बने हुए हैं। उत्तर की पर्वत श्रेणियों की बर्फ से ढकी चोटियों पर हिमालयी तहर, बर्फानी तेन्दुआ, कस्तूरी मृग, आइवेक्स नायन (तिब्बती बकरी) भरल (नीली बकरी) साकिन, उरियल याा शापू और मारखोर जैसे पशु तथा अनेक प्रकार के सुन्दर फीजेन्ट पक्षी उपस्थित हैं। उसके दूसरी ओर भारत के रेगिस्तानी क्षेत्र थार में अनेक विचित्र सरीसृपों के अतिरिक्त ग्रेट इंडियन बस्टर्ड जैसे दुर्लभ पक्षी और कृष्ण मृग, चिंकारा तथा रेगिस्तानी लोमडी, घोरखर (वाइल्ड आस) और भेडिया मुख्य रूप से देखे जा सकते हैं। उत्तर पूर्व के मेघाच्छादित वनों में शेर, हाथी, गेंड़ा और गिबन देखे जा सकते हैं। पश्चिमी घाटों के गहन वनों में हाथी, गौर, साम्बर, कोटरी, माउस डीयर, जंगली सूअर, बोनट बंदर, भालू, शेर, तेन्दुआ और सोन कुत्तों के आदर्श आश्रय स्थल हैं। गुजरात के गिर वनों में सिंह उपयुक्त वातावरण में लगातार वृद्धि कर रहे हैं। इस प्रकार किसी जमाने में वन्य–जीवों के लिए प्रसिद्ध अफ्रीका के वनों की तुलना में भारतीय उपमहाद्वीप ने भी वन्य–प्राणि विशेषज्ञों, प्रकृति–विदों और पर्यटकों को एक अकूत कोष उपलब्ध कराया है। इस प्राकृतिक संपदा का यद्यपि अंग्रेजी शासन के समय से ही त्वरित गति से ह्रास प्रारंभ हो गया था, परन्तु स्वाधीन भारत में भी विनाश की गति रूकने के बजाय, तथाकथित विकास, औद्योगीकरण, सड़कों और शहरों के निर्माण के कारण बढ़ती ही गई। भुखमरी और विपन्नता का निदान हमने गरीबों को वन भूमि बांटकर, अधिक अन्न उपजाने के उद्देश्य से भी किया। यदि आज आप यह जानना चाहते हैं कि आपका भारत एकाध शताब्दी पूर्व कैसा और कितना संपदावान था तो इसके लिए आप कान्हा, बोरी, बांधवगढ़ मध्यप्रदेश में, रणथम्भोर राजस्थान में, मानस असम में, सुन्दर वन बंगाल में, जाइये और जैसे संपदायुक्त एवं सुन्दर ये क्षेत्र आज दिखाई देते हैं, वैसा ही आपका सम्पूर्ण भारतवर्ष किसी समय में था। मध्यप्रदेश में भी भोपाल पटनम और इन्चम पल्ली बांध परियोजना से 1,70,000 हेक्टर वन भूमि जिसमें कुछ हिस्सा कुटरू नेशनल पार्क का भी आता है, डूब में आ रही है। जबकि इस पार्क में जंगली भैसे के दुर्लभ और

एकमात्र आवास बचे हैं। एक समय वह भी था जब पूरे भारतीय उप महाद्वीप में घने वन ही वन थे और प्रचुर मात्रा में वन्यप्राणि विचरण करते रहते थे। धीरे–धीरे मानव हस्तक्षेप बढ़ता गया, गांव–शहर बनते गये और नये–नये गांवों का भी जन्म होता गया। गांवों शहरों को जोड़ने के लिए और वनोत्पादों के दोहन के लिए सड़कों का निर्माण हुआ, विभिन्न उद्योग आये, जल–विद्युत परियोजनाएँ आयीं और जंगल सिकुड़ते गये। जंगलों के टुकड़े–टुकड़े होते रहने से वन्य–प्राणि भी भीतर की ओर धकेले जाते रहे। वन्य–प्राणियों के निच (NICH) (निकेत) परिस्थिति के अनुसार बदलने लगे और जहाँ समायोजन की गुंजाइश शेष नहीं रही वहां मनुष्य और वन्य–प्राणियों के बीच अघोषित संघर्ष भी होने लगा। नरभक्षी शेरों, विध्वंसक हाथियों और फसल चौपट करने वाले अनेक चौपायों, हिरणों और कृंतकों के साथ हो रहे इस संघर्ष में मानव लगातार विजयी होता रहा और प्राकृतिक असंतुलन का जन्म होने लगा।

परन्तु सौभाग्य की बात है कि पिछले 20–25 वर्षों से एक निश्चित मोड़ आया और भारत सरकार ने वनों और वन्य–प्राणियों के संरक्षण की अनेक योजनाएँ प्रारंभ करके उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। भारत सरकार के प्रयासों का ही प्रतिफल है कि हम भारतीय गेंडे, हुकना, घरियाल और बारासिंघा आदि प्रजातियों को समाप्ति के कगार से वापिस ला सकें। और इन शासकीय–अशासकीय संगठनों के प्रयासों के कारण उपरोक्त अघोषित संघर्ष काफी सीमा तक शांति में बदल रहा है। 1960 के दशक के बाद से ही दृश्य में बदलाव दिखाई देने लगे थे। संरक्षण के पक्षधरों ने यह निश्चय किया कि यदि शेर को समाप्त होने से बचाना है तो उसके आवास को बचाना होगा, और उसके आवास को बचाने का अर्थ हुआ समग्र पारिस्थितिकी–तंत्र की सुरक्षा, क्योंकि शेर, भोजन श्रृंखला के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान है। फलस्वरूप 1972 में शेर के शिकार पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया गया और 1973 में शेर परियोजना सुन्दर वन (बंगाल), कार्बेट (उत्तरप्रदेश) और पेरियार (केरल) आदि नौ क्षेत्रों में सर्वप्रथम लागू की गई। 1978–79 में दो और तथा 1982–83 में चार अन्य राष्ट्रीय उद्यानों को बाघ–परियोजना में सम्मिलित कर लेने से उनकी संख्या अब 15 हो गई है (देखिये परिशिष्ट क्र. 9.4)। यह परियोजना अब तक के संरक्षण के लिए किये गये सभी प्रयासों में सफलतम प्रयास साबित हुई है। और अनेक विरल प्रजातियों की आबादी में वृद्धि हुई तथा अनेक संकटापन्न प्रजातियों के स्तर में भी सुधार हुआ।

1.5 वन्य–प्राणियों के ह्रास के मुख्य कारण

मनुष्य ने विकास के नाम पर भौतिक सुखों की व्यवस्था पर ही अधिक ध्यान दिया और जीवन–पोषण–तंत्र को लगातार क्षति पहुंचाई। जीवन–पोषण–तंत्र लगातार बौना होता रहा और हवा, पानी, नदी, नाले, समुद्र आदि प्रदूषित होते गये। वन और वन्य–प्राणियों के अन्य आवास धीरे–धीरे समाप्त होते गये। बढ़ती हुई मानव जनसंख्या का पूर्ण बोझ वन्य–प्राणियों के आश्रय स्थलों पर भारी पड़ने लगा। औद्योगीकरण, असीमित वन दोहन, अधिक अन्न उपजाने के उद्देश्य से वन भूमि पर अतिक्रमण, सड़कों का निर्माण, रेल्वे और बड़ी हाइड्रो इलेक्ट्रिक परियोजनायें, वन्य–प्राणियों को और

उनके आवासों को निगलती गई, और वन्य प्राणी लगातार धकेले जाते रहे। अन्ततः या तो समाप्त हो गये या बहुत कम संख्या में शेष आवासों में कुछ बचे रह गये। भारी मात्रा में पूर्व में अनियंत्रित शिकार ने भी पूरी भोजन–श्रृंखला और प्राकृतिक संतुलन को अस्त–व्यस्त कर डाला। शिकार के कारण मांसाहारी प्राणियों को तुलनात्मक रूप से अधिक क्षति का सामना करना पड़ा, क्योंकि एक ओर तो उनकी पुनरोत्पादन की दर बहुत कम रहती है, दूसरी ओर उनके शिकार में अधिक उत्तेजनात्मक आखेट के कारण भी उनका भारी मात्रा में संहार होता रहा है। अकेले महाराजा सरगूजा ने अपने जीवन काल में 1100 से अधिक शेरों का शिकार किया और इसी प्रकार अन्य अनेक महाराजा भी उनसे अधिक पीछे नहीं रहे। मनुष्य के अलावा उसके पालतू पशुओं की असीमित वृद्धि का बोझ भी अन्ततः वन्य–प्राणियों पर ही पड़ा और उनसे उनके चारागाह और आवास छिन गये। पालतू पशुओं की छूत की बीमारियों ने भी वन्य–प्राणियों को क्षति पहुंचाई। विकास या सभ्यता का अर्थ केवल बड़े–बड़े शहर, बड़ी–बड़ी औद्योगिक इकाईयां, हजारों मील लम्बे राजमार्ग, बड़े–बड़े हवाई अड्डे आदि ही नहीं है, बल्कि इन शहरों, उद्योगों और खेती के उपकरणों से लेकर मृदा तक की आवश्यकताओं की पूर्ति केवल प्राकृतिक जीवन–पोषण–तंत्र की सुरक्षा एवं नवीनीकरण योग्य संसाधनों के सीमित उपयोग से ही संभव है। और नवीनीकरण संसाधनों में वन्यप्राणि भी एक महत्वपूर्ण हिस्सा होते हैं। मानव हस्तक्षेप के कारण विश्व में पिछले 2000 वर्षों में लगभग 160 स्तनपायी और 88 पक्षी प्रजातियां लुप्त हो गई हैं। वन्य–प्राणियों के विनाश के कारणों की अधिक व्यापक व्याख्या अध्याय–7 में की गई है।

वन्य प्राणियों के ह्रास–स्तर का वर्गीकरण

यह एक सुखद पक्ष है कि 1960 के दशक के बाद से वन्य–प्राणियों के ह्रास को रोकने और स्थिति का वस्तु–परक अध्ययन करने के गंभीर प्रयास किये गये। पर्यावरण और वन्य–प्राणियों के आवासों का संरक्षण भी इन प्रयासों में सम्मिलित था। वर्ष 1948 में गठित (आई.यू.सी.एन.) इन्टर नेशनल यूनियन फार कन्सरवेशन आफ नेचर एंड नेचुरल रिसोर्सिस, जो यूनेस्को (UNESCO) द्वारा प्रायोजित की गई थी, ने अपनी सहायक संस्था एस.एस.सी. (सर्वाइवल सर्विस कमीशन) के माध्यम से ऐसे वन्य–प्राणियों एवं वनस्पतियों के ह्रास–स्तर का अध्ययन कराया जो विलुप्त हो रही थी और जो विलुप्त होने के कगार पर संकटग्रस्त थी तथा जिन्हें संकट की आशंका थी। इस एस.एस.सी संस्था ने इस अभिलेख पुस्तिका का ''रेड डाटा बुक'' नाम दिया। यह संस्था आवश्यक अध्ययन के बाद न केवल इन प्रजातियों के ह्रास का स्तर अभिलेखित करती है बल्कि संबंधित सरकारों को इन प्रजातियों के संरक्षण एवं संवर्धन बाबत परामर्श भी मुहिया कराती है। आवश्यकता महसूस करने पर कभी–कभी कहीं–कहीं तो यह संस्था विश्व वन्यप्राणि कोष से धन की सहायता लेकर संरक्षण की परियोजनाओं का सीधा संचालन भी करती है।

वन्य–प्राणियों के ह्रास स्तर (Status of depletion of wild life) को मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता हैः–

(1) बिरल स्तर (RARE STATUS)

जब किसी प्रजाति का घनत्व उसके अनुकूलतम आवासों से इष्टतम (Optimum) घनत्व से बहुत कम हो गया हो, परन्तु इतना कम भी नहीं हो कि उस प्रजाति के अस्तित्व के निकट भविष्य में विलुप्त हो जाने का खतरा हो तो यह स्तर बिरल स्तर कहलाता है। ऐसी विरल समष्टि के आवास क्षेत्र को संरक्षित घोषित करके उनकी संख्या को और अधिक घटने से रोका जाना चाहिये। यदि यह समष्टि संख्या संरक्षण के उपायों के फलस्वरूप बढ़ने लगती है तो उसका स्तर विरल स्तर से बढ़ जाता है और उसे इस सूची से निकाला जा सकता है।

(2) संकटासन्न स्तर (THREATENED STATUS)

प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण जब किसी प्रजाति की आबादी लगातार घटती जाती है और घटते–घटते ऐसे स्तर पर पहुंच जाती है जहां उसके विलुप्त होने की आशंका आसन्न दिखाई देने लगती है, उस स्तर को संकटासन्न स्तर कहा जाता है। यह स्तर विरल से गंभीर परन्तु संकटग्रस्त स्तर से कम गंभीर स्थिति में होता है। अत्यधिक शिकार या दोहन अथवा प्रतिकूल पर्यावरण के कारण होने वाली लगातार क्षति इस संकट का मुख्य कारण हो सकती है।

(3) संकट ग्रस्त स्तर (ENDANGERED STATUS)

जब किसी प्रजाति की समष्टि संख्या घटते–घटते इस स्तर पर पहुंच जाती है कि उस प्रजाति के विलुप्त हो जाने का गंभीर संकट उपस्थित हो गया हो, तब इस प्रजाति के ह्रास स्तर को संकटग्रस्त स्तर कहा जाता है। और इस स्थिति में प्राकृतिक रूप से इस प्रजाति के विलुप्ति के संकट से मुक्त होने की संभावनाएँ क्षीण हो जाती हैं तथा सीधे मानव हस्तक्षेप एवं सुरक्षा साधनों का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है।

आई.यू.सी.एन. के सर्वाइकल कमीशन (S.S.C.) द्वारा तैयार की गई रेड डाटा बुक को प्रतिवर्ष जीव प्रजातियों के स्तर में हुए परिवर्तन के अनुसार संशोधित किया जाता रहता है। अर्थात् कुछ प्रजातियां जिनका ह्रास स्तर सुधर जाता है, वे सूची से निकाल दी जाती हैं और यदि कोई नई प्रजाति संकटग्रस्त हो जाती है तो उसे सूची में सम्मिलित किया जाता है।

(तालिका क्र. 1.1)

संकटग्रस्त प्रजातियों की सूची

क्र.	ऑर्डर कोटि	फेमिली (कुल)	वैज्ञानिक नाम	सामान्य नाम हिन्दी	स्तर	आवास
1	2	3	4	5	6	7
(क) वर्ग–स्तनपायी (Class - Mammalia)						
1.	प्राइमेट (Primates)	(1) सरकोपिथो–सिडी (Cercop-ethecide)	मकाका साइलेनस (Macaca silenus)	लायन टेल्ड मकाक (नीलबंदर)	संकट ग्रस्त	दक्षिण पश्चिमी घाट
2.	लेगोमोरफा (Lagomorp - ha)	लेपोरिडी (Laporidie)	केपरोलेगस हिस्पीडस (Caprolagu s hispidus)	हिस्पिड हेयर (काला खरगोश)	,,	आसाम
3.	सेटेसी (Cetacea)	(1) प्लेटोनिस्टीडी (Platanistidae)	प्लेटोनिस्टा इंडिका (Platanista indica)	इंडस डोलफीन	,,	गंगा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र
4.	कार्निवोरा (Carnivora)	(1) विविरिडी (Viveridiae)	विवेरा मेगास्पिला सिवेटिना (Vivera megaspila civettina)	मलावारस्पॉटिड – सिवेट	,,	दक्षिण पश्चिमी घाट
		(2) फैलिडी (Felidae)	(1) पेन्थेरा लीयो परसिका (Panthera leo persica)	एसियेटिक लायन लायन (सिंह)	,,	गिरवन
			(2) पेन्थरा टाइगरिस (Panthera tigris)	टाइगर (शेर)	,,	भारत
			(3) पेन्थरा उंसिया (Panthera uncia)	स्नोलेपर्ड, (बर्फानी तेन्दुआ) (Snow-leopard)	,,	हिमालय
5.	प्रोबोसिडी (Probosci-dae)	एलीफेंटिडी (Elephantidae)	एलीफस मैक्सीमस (Eliphus maximus)	इंडियन एलीफेंट भारतीय हाथी	,,	दक्षिण और पूर्वात्तर पूर्वात्तर भारत
6.	पेरिसोडेक्टाइल (Perisodac-	(1) इक्विडी (Equidae)	इक्यूअस हेमियोनसखुर	इंडियन वाइल्ड आस (घोरखर)	संकट ग्रस्त	गुजरात

	tyla)		(Equus heminous khur)			
		(2) राइनोसेरिडी (Rhinocerida e)	राइनोसेरस यूनिकोर्निस (Rhinocero s unicorns)	ग्रेट इंडियन राइनो (विशाल भारतीय गेंडा)	,,	असाम व उत्तर बंगाल
7.	आर्टियोडे–क्टाइला (Artiodac-tyla)	(1) सुइडी (Suidae)	सस–सल्वेनियस (Sus-sulvanius)	पिगमी हॉग (हिमालयी सुअर)	,,	तराई, उत्तरा–भारत
		(2) सर्विडी (Cervidae)	(1) सर्वस (बारासिंघा) डुआसेली (Cervus duaocelli)	स्वाम्प डीयर (बारासिंघा)	,,	मध्य भारत
			(2) सर्वस इलेफस हांगुल (Cervus elaphus hangul)	हांगुल (कश्मीर स्टेग)		कश्मीर
			(3) सर्वस एल्डी एल्डी (Cervus eld eldi)	मणिपुर डियर (मणिपुरी हिरण)	,,	मणिपुर
		(3) बोविडी (Bovidae)	ब्यूबेलस ब्यूबेलिस (Bubalus bubalis)	वाइल्ड एसियेटिक वाटर बफेलो (अरना भैंसा)	,,	आसाम और बस्तर म. प्र.
(ख) वर्ग–पक्षी (Class - Aves)						
8.	गेलीफोर्मिस (Gallifor-mes)	फेसिनिडी (Phasianidae)	(1) ट्रेगोपन के बोटी (Tragopan Chaboti)	केबट ट्रेगोपन	,,	उत्तर पूर्व भारत
			(2) ट्रेगोपन मेलानोसिफेलस (Tragopan Malanocep halus)	पश्चिम ट्रेगोपन	,,	पश्चिमी हिमालय
9.	ग्रुईफोर्मिस (Gruiphor mes)	ऑटिडिडी (Otididae)	आर्डियोटिस नाईग्रिसेपस (Ardeotis Nigriceps)	ग्रेट इंडियन वस्टर्ड (हुकना)	,,	राजस्थान , मध्य प्रदेश
(ग) सरीसृप वर्ग (Reptilia)						

10.	टेस्टुडाइनस (Testudines)	क्रोकोडाइलिडी (Crocodylidae)	क्रोकोडाइलस पोरोसस (Crocodylus porosus)	एस्चुरिन क्रोकोडाइल	संकट ग्रस्त	पूर्वी समुद्र तट
		गेरियेलिडी (Garialidae)	गेरियेलिस गेजेटिकस (Garrialis ganjeticus)	घड़ियाल	,,	उत्तर भारत की नदियां
(घ) वर्ग–कीट पतिंगा (Insecta)						
11.	एनोप्लूरा (Anoplura)	हेमेटोपिनीडी (Haematopinidae)	हेमेटोपिनस आलिवरी (Haematopinus oliveri)	सकिंग लाइस	,,	आसाम

1.6 भारत के कुछ प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान एवं अभ्यारण्य

संभवतः विश्व में सर्वप्रथम, लगभग 300 वर्ष ईसा पूर्व सम्राट अशोक द्वारा वन्य–प्राणियों के संबर्धनार्थ अभयारण्यों की स्थापना की गई थी। वैसे इससे पहले भी वैदिक साहित्य में ऐसे संरक्षित वनखंडों का उल्लेख मिलता है जहाँ वन्य–प्राणियों के संबर्धन के लिए आखेट पर पूर्ण प्रतिबंध लागू किया गया था। बनारस के पास सारनाथ में एक मृग उद्यान में भगवान बुद्ध के प्रवचनों का उल्लेख भी मिलता है। फिर मुगलों ने भी अपने साम्राज्य में अनेक वनक्षेत्रों को शिकार–गाह के रूप में संरक्षण प्रदान किया। अंग्रेजी शासन काल में भी यद्यपि वन्य–प्राणि संरक्षण को कुछ अधिकारियों और राजा–महाराजाओं ने महत्व तो दिया लेकिन फिर भी वन्य–प्राणियों के विकास और अनियंत्रित शिकार पर रोक लगाने में वे सफल नहीं हुए। बल्कि इसके विपरीत द्वितीय विश्व युद्ध के आसपास का समय तो वन और वन्य–प्राणियों के विनाश का सर्वाधिक काला समय सिद्ध हुआ।

धीरे–धीरे वैज्ञानिकों और जनसाधारण ने वनों और वन्य–प्राणियों के महत्व को समझना प्रारंभ किया और जन–आकांक्षाओं के परिणामस्वरूप विश्व के अनेक देशों में राष्ट्रीय–उद्यानों और अभयारण्यों की स्थापना की जाने लगी। अकेले भारत में वर्तमान में 55 राष्ट्रीय उद्यान और 247 अभयारण्य स्थापित हो चुके है। और यह इन्हीं राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों की स्थापना का प्रतिफल है कि आज अनेक संकटग्रस्त वन्यप्राणि प्रजातियों पुनर्स्थापित की जा सकीं और अनेक संकटापन्न प्रजातियों का स्तर सुधारा जा चुका है, अन्यथा अनेक प्रजातियाँ भारतीय चीते की भांति हमारे देश की धरती से लुप्त हो चुकी होती। राज्य वार राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों की संख्या तालिका क्रमांक 1.1 में दी गई हैं। लगभग 90,000 वर्ग किलोमीटर वनक्षेत्र इन राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों के अंतर्गत आ चुका है जो कुल भारतीय भू–भाग का 3 प्रतिशत और कुल वन क्षेत्र का 12 प्रतिशत होता है। उपरोक्त अभयारण्य और राष्ट्रीय–उद्यान भारत के विभिन्न जीवोमों में और आवास–प्रकारों में स्थित हैं। इन आवासों और उनमें स्थित अभयारण्यों/राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या को निम्नानुसार वर्गीकृत किया जा सकता है।

क्रमांक	प्रवेश वर्ग	राष्ट्रीय उद्यान + अभयारण्यों की संख्या
1	2	3
1.	अल्पाइन प्रदेश	5
2.	शीतोष्ण प्रदेश	41
3.	आर्द्र उष्ण कटिबंधीय	81
4.	उष्ण कटिबंधीय शुष्क पर्णपाती वन प्रदेश	115
5.	उष्ण कटिबंधीय कटीली झाड़ियों वाले वन प्रदेश	12
6.	आर्द्र और दलदली क्षेत्र	30
7.	मेन्ग्रोव	12
8.	समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र	3
9.	मरूस्थल प्रदेश	3
		302

इस प्रकार देश के सभी प्रकार के आवास प्रकारों को उचित प्रतिनिधित्व दिया गया है।

भारत के प्रमुख राष्ट्रीय उद्यान एवं बाघ परियोजना क्षेत्रों के विषय में संक्षिप्त जानकारी क्रमशः परिशिष्ट क्रमांक 9.1 एवं 9.4 में दी गई है। मध्यप्रदेश के समस्त राष्ट्रीय उद्यान और समस्त अभयारण्यों की सूची तथा संक्षिप्त विवरण परिशिष्ट क्र. 9.5 और 9.6 में दिया गया है। मध्यप्रदेश में वर्ष 1972–73 तक केवल 3 राष्ट्रीय उद्यान और 12 अभयारण्य थे, जिनका कुल क्षेत्रफल 5340 वर्ग किलो मीटर था। धीरे–धीरे नये राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों की संख्या में वृद्धि होती रही है और अब 8 नये राष्ट्रीय उद्यान तथा 19 नये अभयारण्य मिलाकर इनकी संख्या क्रमशः 11 राष्ट्रीय उद्यान और 31 अभयारण्य हो गई है और इनका क्षेत्रफल 17,308 वर्ग किलो मीटर अर्थात् मध्यप्रदेश के कुल वन क्षेत्र के केवल 3.45 प्रतिशत से बढ़कर 11.16 प्रतिशत हो गया है जबकि म.प्र. का कुल वनक्षेत्र 1,55,414 वर्ग कि.मी. है।

1.7 वन्यप्राणि संरक्षण हेतु प्रयास

भारत में वन्यप्राणि संरक्षण हेतु किये गये प्रयासों का इतिहास ईसा से 4 शताब्दी पूर्व कौटिल्य के अर्थशास्त्र से प्रारंभ होता है, जब उनके द्वारा अनेक अभयारण्य और ''हस्ति संरक्षण क्षेत्रों'' की स्थापना की गई थी। इनके बाद सम्राट अशोक ने 3 शताब्दी ईसा पूर्व वन्य–प्राणियों के संरक्षण हेतु अनेक नियम बनाये। कालान्तर में अनेक राजा–महाराजाओं द्वारा भी अपनी शिकारगाहों के रूप में वन

खंडों को संरक्षण प्रदान किया गया। जिनमें से अधिकतर वन खंडों को बाद में राष्ट्रीय उद्यान अथवा अभयारण्य घोषित किया गया है। भारत में ऐसा सर्वप्रथम अभयारण्य तमिलनाडु में वेदान्थांगल पक्षी अभयारण्य वर्ष 1898 में स्थापित किया गया था। इसके बाद काजीरंगा (असम) वर्ष 1908 में स्थापित हुआ। सबसे पहला राष्ट्रीय उद्यान घोषित होने का गौरव हेरी नेशनल पार्क को है जो 1935 में बनाया गया। बाद में इसका नाम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान हो गया। परन्तु वन्यप्राणि संरक्षण के प्रयासों में वर्ष 1970 के बाद से ही उल्लेखनीय प्रगति हुई है और राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय, वैधानिक और प्रशासकीय स्तर पर अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किये गये हैं। स्वैच्छिक संस्थाओं ने भी अनेक कार्यक्रमों के माध्यम से जन–जागरण का कार्य किया है।

1.7.1 राष्ट्रीय स्तर के प्रयास

1. **भारतीय वन नीतिः–** डॉ, जे.ऐ. बोएलकर ने वर्ष 1893 में भारतीय कृषि के उत्थान हेतु एक प्रतिवेदन तैयार किया था। इसी प्रतिवेदन को आधार मानकर वर्ष 1894 में भारतीय वन नीति की घोषणा की गई। इससे स्पष्ट है कि उक्त वन नीति कृषि–उत्थान के हित में अधिक थी वन और वन्य प्राणियों के विषय में प्रावधान गौण थे। इस वन नीति में वनों को राजस्व का मुख्य स्त्रोत मानकर प्रावधान किये गये थे। अतः एक नई वन नीति की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए स्वाधीन भारत में वर्ष 1952 में नई भारतीय वन नीति घोषित की गई। परन्तु इस नीति में भी वन्य–प्राणियों के संरक्षण हेतु वांछित प्रावधानों की कमी थी।
2. **संविधान में प्रावधानः–** भारत के संविधान में भी आर्टिकल 48 द्वारा राष्ट्रीय पर्यावरण और पारिस्थितिकी की सुरक्षा का प्रावधान किया गया है और आर्टिकल 51 के द्वारा भारत के समस्त नागरिकों के लिए यह बन्धनकारी प्रावधान किया गया है कि वे भारत के पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों की सुरक्षा एवं संवर्धन सहित मित्तव्ययता से उपयोग करें।
3. **अनुसूची प्रोन्नतः–** वर्ष 1976 तक वन और वन्यप्राणि विषयों को अनुसूची 2 (राज्य सूची) से प्रोन्नत करके अनुसूची 3 अर्थात् समवर्ती सूची (Concurrent list) में ले लिया गया ताकि वनों और वन्य प्राणियों का बेहतर संरक्षण हो सके।
4. **भारतीय वन्यप्राणि सलाहकार मंडल का गठनः–** वर्ष 1952 में राष्ट्रीय स्तर पर एक सलाहकार मंडल का गठन किया गया जो वन्यप्राणियों के संरक्षण और संवर्धन के हितों की निगरानी करता है। इस सलाहकार मंडल का नाम आगे चलकर वर्ष 1980 में भारतीय वन्यप्राणि सलाहकार मंडल (इंडियन बोर्ड फोर वाइल्ड लाइफ) हो गया है। वर्ष 1970 तक राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों आदि संरक्षित क्षेत्रों का क्षेत्रफल 20,000 वर्ग किलो मीटर से बढ़कर 1985 में 90,000 वर्ग किलो मीटर हो गया है।
5. **बाघ परियोजनाः–** राष्ट्रीय स्तर पर अभी तक किये गये प्रयासों में सबसे सफलतम योजना 1973 में घोषित बाघ परियोजना (प्रोजेक्ट टाइगर) है, जिसमें प्रथम वर्ष में 9 संरक्षित क्षेत्र और 78–79 में दो और तथा 1982–83 में 4 और क्षेत्रों को अर्थात् कुल 15 राष्ट्रीय उद्यान और अभयारण्यों को इस

बाघ परियोजना में सम्मिलित किया जा चुका है और इसके परिणाम आशा से भी अधिक सफल रहे हैं।

6. **मगर प्रजननः–** वर्ष 1976 में मगर और घड़ियाल के प्रजनन और प्रबंध की अनेक परियोजनाएं प्रारंभ करके संकटग्रस्त प्रजातियों को पुनर्स्थापित करने में उल्लेखनीय सफलता अर्जित की गई हैं। एफ. ए. ओ. और यू. एन. डी. पी. की सहायता और मार्गदर्शन में उपरोक्त परियोजनाएँ देश के 9 प्रदेशों में लागू की गई है।
7. **अन्य परियोजनाएँः–** भारत के गिर वनों में सिंह (एशिया लायन), कान्हा में बारासिंघा (सर्वस डुआसेलाई ब्रांड्री), केबुल लाभजाओ (मणिपुर) में ब्रो एन्टलर्ड डीयर, मणिपुरी हिरण, कश्मीर के डचिगाम में हांगुल, काजीरंगा (असम) में भारतीय विशाल गेंडे (ग्रेट इंडियन राइनोसेरस) और उन सभी क्षेत्रों में जहां–जहां भारतीय हाथी पाया जाता है उनमें भारतीय हाथी के संरक्षण हेतु विशिष्ट योजनाएँ प्रारंभ की गई हैं और इन परियोजनाओं में आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई है।
8. **शिक्षण एवं प्रशिक्षण योजनाएँः–** वर्ष 1976–77 में वन्यप्राणि शिक्षण एवं प्रशिक्षण के लिये देहरादून में अलग से एक संचालनालय का गठन किया गया था जिसमें सेवारत वनाधिकारियों के लिए स्नातकोत्तर उपाधि पत्र पाठ्यक्रम प्रारंभ किया गया था। इस संचालनालय का स्तर प्रोन्नत करके एक स्वायत्त संस्था भारतीय वन्यप्राणि संस्थान (वाइल्ड लाइफ इंस्टीट्यूट आफ इंडिया) का निर्माण किया गया है जिससे भारत में वन्यप्राणि प्रबंध कार्य को एक ठोस वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ है।
9. **वन्यप्राणि व्यापार आदिः–** वन्यप्राणियों और इनके उत्पादों के व्यापार पर ठोस नीति बनाकर उनके अवैध व्यापार पर नियंत्रण लागू किया गया है और वर्ष 1976 से भारत भी साइटस (CITES) (कन्वेंशन आन इन्टरनेशनल ट्रेड इन एनडेन्जर्ड स्पीसीज आफ वाइल्ड लाइफ एंड फूलोरा) का सदस्य बन गया है जिसके कारण वन्यप्राणियों और उनसे बने उत्पादों का अवैध निर्यात रोकने में भारी सफलता प्राप्त हुई है। इसके अलावा भारत निम्न तीन प्रमुख कनवेंशनों (Conventions) का भी सदस्य बन गया है जिससे वन्यप्राणियों और उनके आवासों का संरक्षण करने में विशेष सहायता प्राप्त हुई है।
    1. कन्वेंशन आन वेट लेन्ड्स
    2. कन्वेंशन आन दी कन्सरवेशन आफ माइग्रेट्री स्पेसीस
    3. कन्वेंशन फार दी रेगुलेशन आफ व्हेलिंग।
10. **पर्यावरण विभाग का गठनः–** वन और वन्यप्राणि विषय पूर्व में कृषि विभाग के अंतर्गत आते थे, लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर इनके महत्व की पहचान और आवश्यकता समझते हुए अब केन्द्रीय शासन में पर्यावरण एवं वन तथा वन्यप्राणि विभाग का प्रथक रूप में गठन किया गया है।
11. **वन्यप्राणि कार्य योजनाः–** अक्टूबर 1983 में राष्ट्रीय वन्यप्राणि कार्य योजना जैसा महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ जिसमें राष्ट्रीय स्तर पर लम्बी अवधि की योजनाओं और कार्यविधि का निर्धारण किया

गया ताकि एक निश्चित और सोची समझी दिशा में गतिविधियों का लगातार संचालन और पड़ताल जारी रह सकें। इस कार्य योजना के अंतर्गत नये राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों की स्थापना, बिगड़े हुए आवासों की पुनर्स्थापना, संकटग्रस्त प्रजातियों का पुनर्वास आदि अनेक महत्वपूर्ण पहलुओं को समाहित किया गया हैं।

12. **बायोस्फियर रिजर्व का गठनः–** भारत के प्रमुख जीवोमों के प्रतिनिधि क्षेत्रों में से 9 क्षेत्रों का चुनाव बायोस्फियर रिजर्व घोषित करने के लिए किया गया है और इस कार्यक्रम के संचालन के लिए केन्द्रीय शासन का पर्यावरण विभाग नामिकीय नोडल एजेन्सी के रूप में कार्यरत हैं।

1.7.2 राष्ट्रीय स्तर के प्रयास

भारत में वन्यप्राणि संरक्षण को सही गति एवं सहायता देने के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी महत्वपूर्ण गतिविधियाँ कार्यरत रही हैं, इनमें कुछ प्रमुख प्रयासों का ही संक्षिप्त विवरण इस पुस्तक में देना संभव है।

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर गठित संघ आई. यू. सी. एन. (इन्टरनेशनल यूनियन फार कन्सरवेशन आफ नेचर एंड नेचुरल रिसोर्सिस) वर्ष 1948 से अस्तित्व में आया जिसमें अनेक देशों की सरकारों के अतिरिक्त अनेक स्वैच्छिक संस्थाएँ भी सदस्य के रूप में सम्मिलित हैं और वैज्ञानिक आधार पर प्रकृति के संरक्षण और प्राकृतिक संसाधनों के इष्टतम प्रतिपालन में रूचि रखने वाली दुनिया की यह विशालतम संस्था है। विश्व वन्यप्राणि कोष के साथ मिलकर इस संस्था ने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वन्यप्राणियों और प्रकृति के संरक्षण की दिशा में महान योगदान दिया है।

किसी न किसी रूप में आई. यू. सी. एन. द्वारा प्रायोजित अथवा सम्बद्ध अनेक कार्यक्रम भारत में भी लागू किये गये है जिनका वर्णन पूर्व कंडिका में किया गया है।

वर्ष 1981 में भारत साइटस (CITES) का अध्यक्ष चुना गया था और पुनः 1984 में भी भारत को इस महान संस्था का चेयरमेन चुने जाने का गौरव प्राप्त हुआ है जो अपने आप में एक विशिष्ट सम्मान है। दिनांक 29 अक्टूबर 1982 को संयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा द्वारा ''प्रकृति हेतु विश्व अधिकार पत्र'' वर्ल्ड चार्टर फार नेचर अंगीकार किया गया जिसमें विश्व के प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की समस्याओं के अध्ययन उपरान्त, निराकरण के उपायों पर सहमति व्यक्त करते हुए कुछ सामान्य सिद्धांतों को अंगीकार किया गया। दिनांक 6 मार्च 1980 को श्रीमती इंदिरा गांधी तत्कालीन भारतीय प्रधान मंत्री द्वारा विश्व संरक्षण युक्ति (वर्ल्ड कन्सरवेशन स्ट्रेटेजी) को लागू करने की घोषणा की। इस घोषणा की प्रेरणा उन्हें स्टाकहोम में दिनांक 14 जून 1972 को मानव पर्यावरण (Human Environment) पर संयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित बैठक में उपस्थित होने से प्राप्त हुई। संयुक्त राष्ट्र

संघ द्वारा अंगीकृत ''वर्ल्ड चार्टर फार नेचर'' भी उसके द्वारा पूर्व में 1980 में लागू किये गये वर्ल्ड कन्सर्वेशन स्ट्रेटेजी का ही प्रतिफल था।

आई. यू. सी. एन. ने सेपला (CEPLA) (कमीशन आन एनवायरेनमेन्टल लॉ पोलिसी एंड एडमिनिस्ट्रेशन) और यूनेप (UNEP) (यूनाइटिड नेशनल एनवायरेनमेंट प्रोग्राम) के गठन का भी मार्ग प्रशस्त किया। आई. यू. सी. एन. के कमीशन आन नेशनल पार्क एंड प्रोटेक्टिड एरियास (CNPPA) ने पूरे विश्व के संरक्षित क्षेत्रों की जानकारी संकलित की, जहां विश्व स्तर पर कार्यवाही अपेक्षित समझी गई। सी. एन. पी. पी. ए. की सहायता यूनेप (UNEP) (यूनाइटिड नेशन्स एनवायरनमेंट प्रोग्राम) तथा विश्व वन्यप्राणि कोष द्वारा की गई।

1973 में यूनेस्को (UNESCO) के मेब (MAB) (Man and Biosphere) प्रोग्राम के अंतर्गत जीव मंडल रक्षित क्षेत्र (Biosphere Reserve) स्थापित किये जाने का विचार प्रतिपादित किया गया। इसके अतिरिक्त आई. यू. सी. एन. के सर्वाइवल सर्विस कमीशन (SSC) की पहल, मार्गदर्शन एवं सहायता से भारत के काजीरंगा से दुधवा में भारतीय गेंडे को लाकर पुनर्वासित किया जाने वाला महान कार्य वन्य–प्राणि संरक्षण की दिशा में एक अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। संयुक्त राष्ट्र और आई. यू. सी. एन. के संयुक्त तत्वावधान में विश्व में 9 विश्व धरोहर स्थल (वर्ल्ड हेरिटेज साइट्स) घोषित करके उनकी कार्य योजना बनाई गई है। वर्ष 1982 में एक टास्क फोर्स समिति का गठन किया गया जिसमें विशेष पारिस्थितिकी क्षेत्रों का विकास (SAED) स्पेशल एरिया इको डेवलपमेंट कार्यों का आंकलन किया गया है।

1.7.3 वैधानिक स्तर पर प्रयास

वैधानिक स्तर पर किये गये प्रयासों से यहां हमारा तात्पर्य राज्य स्तर, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर वन्यप्राणियों की सुरक्षा, संवर्धन, संरक्षण और परिरक्षण के अतिरिक्त वन्यप्राणियों के आवासों के संरक्षण हेतु समय–समय पर बनाये गये विधानों और अधिनियमों से है। इस प्रकार इस दिशा में किये गये प्रयासों में वनों के संरक्षण तथा सामान्य रूप से समस्त पर्यावरण के संरक्षण हेतु किये गये प्रयासों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। यहां इन प्रयासों की एक संक्षिप्त झलक का ही उल्लेख कर पाना संभव है।

जैसा कि पूर्व में बताया गया है महाराज चन्द्रगुप्त के महामात्य कौटिल्य (चाणक्य) ने सर्वप्रथम आखेट के नियम बनाये और बाद में तीन शताब्दी ईसा पूर्व महाराज अशोक ने भी अनेक अधिनियम लागू किये। राजा महाराजाओं ने अपने–अपने राज्यों में उनकी शिकार गाहों में वन्यप्राणियों की प्रचुर मात्रा परिपालित करने हेतु उनकी सुविधानुसार नियम बनाये। वर्ष 1894 में वन नीति घोषित होने से

वनों के प्रति हमारे दायित्वों को सर्वप्रथम पहचाना गया। 1952 में भारत के संविधान में भी वनों और वन्यप्राणियों के अतिरिक्त प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित रखने का प्रावधान किया गया। 1970 के दशक से पूर्व यद्यपि वेदान्थांगल (1898), काजीरंगा (1908) और हेरी नेशनल पार्क (1935) आदि कुछ संरक्षित क्षेत्रों का गठन हो चुका था, परन्तु इस दशक के बाद ही वन्यप्राणि संरक्षण की दिशा में उल्लेखनीय एवं वांछित प्रगति संभव हो सकी, जिसका सारा श्रेय तत्कालीन प्रधानमंत्री और अनेक संरक्षणवादियों को जाता है।

यद्यपि वनों के संरक्षण हेतु बनाये गये विधानों का सिलसिला 1865 के भारतीय वन अधिनियम से प्रारंभ होता है, परन्तु वर्ष 1927 में बनाये गये वन अधिनियम में अधिक उपयोगी धाराओं का समावेश किया गया। फिर भी यह अधिनियम वन्यप्राणियों की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं था। जैसी–जैसी आवश्यकता समझी गई वन्य प्राणियों और पक्षियों के संरक्षण के लिए विशिष्ट प्रयोजनों हेतु अधिनियम बनाये जाते रहे। परन्तु वर्ष 1972 का वन्यप्राणि (परिरक्षण) अधिनियम एक अधिक व्यापक और कारगर अधिनियम सिद्ध हुआ। इस अधिनियम के अंतर्गत अभयारण्यों और राष्ट्रीय उद्यानों के गठन करने के अधिकारों के साथ इनके अंदर और इन क्षेत्रों के बाहर भी, वन्यप्राणियों की सुरक्षा और संरक्षण के व्यापक प्रावधान किय गये हैं। धारा 18 में अभयारण्य, 35/38 में राष्ट्रीय उद्यान, 36 में आखेट रक्षित क्षेत्र और 37 में बन्द क्षेत्रों के गठन के प्रावधान हैं। इस केन्द्रीय अधिनियम के अंतर्गत राज्यों को उनकी सुविधानुसार नियम बनाने के अधिकार भी प्राप्त हो गये हैं, और प्रायः सभी राज्यों ने ऐसे कुछ नियम बनाये भी हैं। जम्मू–कश्मीर में भी ऐसा ही एक अधिनियम बनाया गया। वर्ष 1976 में वन्यप्राणि विषय को अनुसूची 2 (राज्य सूची) से पोन्नत कर अनुसूची 3 अर्थात् समवर्ती सूची में सम्मिलित करने से राज्यों के वन्य प्राणियों से संबंधित क्रियाकलापों पर केन्द्र सरकार का सकारात्मक हस्तक्षेप बढ़ गया है। इसी क्रम में आगे चलकर भारतीय सरकार ने वर्ष 1980 में वन संरक्षण अधिनियम 1980 बनाकर किसी भी वन भूमि को वन कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयोजन हेतु हंस्तातरित करने हेतु राज्यों पर प्रतिबंध लगाकर उनका हस्तक्षेप सीमित कर दिया है। यह अधिनियम एक ऐतिहासिक कार्यवाही है।

1.7.4 प्रशासकीय स्तर पर प्रयास

प्रशासकीय स्तर पर किये गये प्रयासों में राष्ट्रीय उद्यानों और अभयारण्यों की एक श्रृंखला स्थापित करना प्रमुख कार्य रहा है। स्वाधीन भारत में वर्ष 1972 के वन्य–प्राणि अधिनियम से पूर्व, अभयारण्य अथवा राष्ट्रीय उद्यान गठित करने हेतु किसी अधिनियम में प्रावधान नहीं था। अतः इस अधिनियम में दिये गये प्रावधानों के अंतर्गत वर्ष 1975 तक 5 राष्ट्रीय उद्यान और 126 अभयारण्य गठित किये गये। यह संख्या वर्ष 1983 में बढ़कर 19 राष्ट्रीय उद्यान और 210 अभयारण्य हो गई और अब इनकी संख्या 55 राष्ट्रीय उद्यान और 247 अभयारण्य तक पहुँच गई है। यह प्रशासकीय संकल्प और प्रयासों के कारण ही संभव हुआ। इसके अतिरिक्त 9 जीव मंडल रक्षित क्षेत्रों (Biosphere Reserve)

की स्थापना पर भी कार्यवाही हुई है। पहली अप्रैल 1973 को टाइगर प्रोजेक्ट योजना लागू की गई और इसके क्रियान्वयन से प्राप्त उपलब्धि प्रशासकीय योगदान का एक सफलतम उदाहरण है। जन–जागरण और प्रचार–प्रसार के माध्यम से भी प्रशासकीय तंत्र ने वन्यप्राणियों के हित में वातावरण बनाने में सफलता अर्जित की है। अनेक स्वैच्छिक संस्थाओं की सकारात्मक भूमिका का सम्मान करते हुए प्रशासन ने अनेक परियोजनाओं में उनकी भागीदारी स्वीकार करके रचनात्मक पहल की है।

1.7.5 स्वैच्छिक संस्थाओं के प्रयास

वन्य प्राणियों के हितों के लिए कार्य करने वाली अनेक संस्थाएँ देश–विदेश के कोने–कोने में जागृत हो चुकी है। इन संस्थाओं का स्वरूप उनके आकार और क्षमता के अनुसार, नगरीय, जिला स्तरीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय हो सकता है। यह स्वीकार करते हुए कि कोई भी विधि–विधान या शासन–प्रशासन बिना जन सहयोग के पर्यावरण और वन्यप्राणियों के संरक्षण कार्यों में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता, केन्द्रीय और राज्य सरकारों ने अनेक स्वैच्छिक संस्थाओं की सकारात्मक भागीदारी स्वीकार की है। स्वैच्छिक संस्थाओं में विश्व वन्यप्राणि कोष (WWF) आई. यू. सी. एन. और बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोयायटी के अतिरिक्त देहरादून, दिल्ली, भोपाल आदि अनेक स्थानों पर स्थित संस्थाएँ प्रमुख हैं। विश्व वन्यप्राणि कोष द्वारा जन–जागरण के अतिरिक्त अनेक योजनाएँ प्रारंभ की गई हैं। बॉम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोयायटी द्वारा अनेक पाठ्यपुस्तकों की रचना और प्रकाशन के साथ बर्ड–बेडिंग जैसा विख्यात कार्यक्रम सफलतापूर्वक किया गया हैं। अन्य संस्थाओं द्वारा पत्र–पत्रिकाएँ अंशकालिकाएँ और हेंडबिल आदि प्रकाशित करके नागरिकों में वन्यप्राणि संरक्षण के प्रति वातावरण तैयार किया जाता है। अनेक संस्थाएँ वन्यप्राणि विषय पर भाषण प्रतियोगिताएँ निबंध और चित्रकला प्रतियोगिताएँ आयोजित करती है। अनेक अवसरों पर इन स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा शासन की नीतियों और उनके क्रियान्वयन में वांछित सुधार हेतु शासन का और जनता का ध्यान आकृष्ट कराने का कार्य भी किया जाता रहा है। स्वैच्छिक और अशासकीय संस्थाओं की भूमिका जनता को दीर्घावधि महती लाभ के बदले में त्वरित गौण लाभ का बलिदान देने के लिए वातावरण तैयार कराने में महत्वपूर्ण है। शासन और प्रशासन के लिए ये संस्थाएँ सलाह देने, तथा जनता में समुचित जागृति पैदा करने के अलावा उसके लिए आंख और कान का भी कार्य करते हैं, क्योंकि वे एक सूचना तंत्र विकसित कर सकते हैं और सरकारों पर दवाब भी डाल सकते हैं।

वन्यप्राणि संरक्षण

अध्याय–2

वन्यप्राणि संरक्षण क्यों?

2.1 वन्यप्राणि संरक्षण

हमारे प्राकृतिक संसाधनों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(क) अनवीनीकरण–योग्य संसाधनः– ये संसाधन अकार्बनिक भी कहे जा सकते हैं, इनमें जल, वायु और भूमि सम्मिलित हैं। इनके संरक्षण से तात्पर्य होता है इनका मितव्ययिता से उपयोग।

(ख) नवीनीकरण–योग्य संसाधनः– ये संसाधन कार्बनिक संसाधन भी कहलाते हैं और इनके संरक्षण का अर्थ है, ऐसी विधि एवं ऐसी सीमा तक इनका उपयोग कि जिससे इनकी नवीनीकरण की क्षमता पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। समस्त जीव–जगत (Flora and Fauna) इसी श्रेणी के संसाधन हैं। यदि इनका संरक्षण नहीं किया गया अर्थात् इनकी नवीनीकरण की क्षमता समाप्त हो जाय तो इन्हें फिर उत्पन्न नहीं किया जा सकेगा और न केवल हमारे ये संसाधन समाप्त हो जायेंगे, बल्कि पृथ्वी की समस्त सारभूत प्रक्रिया ही समाप्त हो जायेगी। अतः इनका संरक्षण बहुत आवश्यक है। इस प्रकार वन्य–प्राणि प्रबंध व्यवस्था वन्य–प्राणि–संरक्षण का ही एक गुण धर्म है।

2.2 संरक्षण के सिद्धान्त

क्योंकि वन्यप्राणियों का संरक्षण वनों के संरक्षण के साथ ही जुड़ा हुआ है, अतः संयुक्त राष्ट्र संघ की दिनांक 21 अक्टूबर, 1982 की सामान्य सभा द्वारा जो वर्ल्ड चार्टर फार नेचर (प्रकृति के लिए विश्व अधिकार–पत्र) अंगीकार किया गया हैं, उसमें विश्व के प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की समस्याओं का अध्ययन करने के उपरान्त उनके निराकरण के उपायों पर सहमति व्यक्त करते हुए संरक्षण हेतु निम्न सामान्य सिद्धान्त अंगीकार किये गयेः–

(1) प्रकृति का सम्मान किया जावेगा और इसकी सारभूत क्रमोन्नति को दूषित नहीं किया जावेगा।

(2) पृथ्वी की (Genetic Viability) आनुवांशिक क्षमता पर कोई समझौता नहीं किया जावेगा। सभी प्रकार के जीव–जन्तुओं पालतू और वन्य–प्राणि का समष्टि स्तर कम से कम ऐसा रखा जाना चाहिए, जो उनके बने रहने के लिए आवश्यक हो और इसके लिए उनके वास–स्थलों (Habitats) की समुचित सुरक्षा की जायेगी।

(3) पृथ्वी के समस्त क्षेत्र, भूमि एवं समुद्र सहित, संरक्षण के इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत होंगे, तथा विशिष्ट क्षेत्रों को विशेष संरक्षण प्रदान किया जावेगा, जिसमें विभिन्न प्रकार के पारिस्थितिकी–तंत्र और वास–स्थलों के प्रतिनिधि क्षेत्र और विरल, दुर्लभ तथा संकटग्रस्त प्रजातियों के प्रतिनिधि क्षेत्र सम्मिलित होंगे।

(4) पारिस्थितिकी–तंत्र और जीवाष्म, भूमि, जलस्त्रोत और वायु–मंडल–संसाधनों का उपयोग एवं प्रबंध इस प्रकार किया जावेगा कि हमेशा इष्टतम–प्रति–पालित–उत्पादकता बनी रहे। परन्तु इस प्रकार नहीं किया जावेगा जिससे किसी अन्य पारिस्थितिकी–तंत्र या प्रजाति, जिसमें वे सहवर्ती हैं, को खतरा उत्पन्न हो जाय।

उपरोक्त सिद्धान्तों को कार्यरूप में परिणत करने के लिए भी उपरोक्त चार्टर में मार्गदर्शी सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया। यह चार्टर अपने आप में सही दिशा में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है।

2.3 संरक्षण की आवश्यकता

वन और हमारे पर्यावरण के संरक्षण के बाद ही हम वन्य–प्राणि संरक्षण की बात सोच सकते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक सर्वेक्षण में कहा गया है कि विकासशील देशों में लगभग 120 करोड़ जनता गंभीर रूप से निर्धनता की रेखा से नीचे जीवन–यापन कर रही है और इन देशों की 200 करोड़ से भी अधिक जनता खेती और वानिकी में मजदूरी पर निर्भर है। अपने भोजन और ऊर्जा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी ये लोग जंगलों को काटकर खड़ी पहाड़ियों को नंगा करते रहे हैं। उनके इस अनैतिक कार्य के अधिकांश परिणामों को वे लोग भी जानते हैं। लेकिन उनकी निर्धनता, सुबह को शाम के भोजन की चिंता व शाम को अगली सुबह के भोजन के चिंता, उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किये रहती है। उनकी प्रतिदिन की रोटी की व्यवस्था से ही पृथ्वी के ऊपर पूरे जीवन पोषण–तंत्र (Life Support System) की सुरक्षा हो सकती है।

निर्धनता की रेखा से नीचे जीने वाले ऐसे व्यक्ति के लिए वन्य–प्राणि संरक्षण की बात की जाय तो निश्चित ही यह उसे विलासिता दिखाई देगी। कभी–कभी तो उस समय ग्रामीणों के भारी विरोध का सामना करना पड़ता है जब वन्य–प्राणि उनकी फसलों को नष्ट कर देते हैं। उनके पालतू पशुओं को हानि पहुंचाते हैं। शिकारी शिकार करना चाहता है, उसे शिकार पर बंधन स्वीकार्य नहीं। वन्यप्राणियों से प्राप्त सामग्री का व्यापारी भी कोई रोक–टोक पसन्द नहीं करता। चराई पर किसी को प्रतिबंध पसन्द नहीं आता। सामान्य व्यक्ति सोचता है कि वन्यप्राणियों का कोई उपयोग नहीं है। उनकी दृष्टि में पालतू पशुओं की तुलना में वन्यप्राणियों को महत्व देना अनुचित है। बोरी अभयारण्य में वर्ष 1987 में जब वन्यप्राणियों के पीने के पानी की व्यवस्था हेतु नलकूप लगाये गये तो अनेक व्यक्तियों ने सूखे के इस वर्ष में ग्रामीणों और पालतू पशुओं की अवहेलना करके वन्यप्राणियों को अधिक महत्व देने के प्रश्न उठाये थे। ऐसी स्थिति में ऋषियों–मुनियों का वनों एवं वन्यप्राणियों के प्रति प्रेम करने का उपदेश इनके विद्रोह को शांत नहीं कर सकता। प्राचीन काल की आश्रम व्यवस्था एवं तत्कालीन परिवेशों के अन्य संदर्भों में भी आज की बढ़ी हुई आवश्यकताओं और विकास का तकनीकी पक्ष अनुकूल नहीं बैठता।

परन्तु क्योंकि पृथ्वी पर पाये जाने वाले समस्त जीव ऊर्जा प्रवाह (Energy Flow) की एक ऐसी श्रृंखला से सम्बद्ध हैं जों उस पारिस्थितिकी–तंत्र के समस्त जीवों एवं निर्जीव पदार्थों की अनवरत अंतरक्रियाओं एवं आपसी संबंधों पर आधारित हैं, अतः वे सब एक दूसरे पर निर्भर हैं। इस सिद्धान्त को आगे अध्याय 3 में विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि ऊर्जा का यह प्रवाह वनस्पति से चलकर शाकाहारी प्राणियों में से होता हुआ, मांसाहारी प्राणियों में पहुंचता है, और अंत में यही ऊर्जा जीवाष्म के माध्यम से उसी पारिस्थितिकी–तंत्र में वापस आ जाती है। इस चक्र में वनस्पति को प्राथमिक उत्पादक या प्रथम–ट्रॉफिक–लेवल कहते हैं। प्राथमिक उत्पादकों के उपभोक्ता दो प्रकार के हो सकते हैं, पहले शाकाहारी जो सीधे वनस्पति से ऊर्जा प्राप्त करते हैं और दूसरे, मांसाहारी–प्राणि, जो शाकाहारी–प्राणियों को खाकर ऊर्जा प्राप्त करते हैं। प्रथम श्रेणी के उपभोक्ता प्राथमिक और दूसरी श्रेणी के उपभोक्ता द्वितीयक उपभोक्ता कहलाते हैं। और ये दोनों ही उपभोक्ता हीट्रोट्रॉफ्स अर्थात् परपोषित कहलाते हैं। मृत प्राणियों से संचित ऊर्जा को पुनः पारिस्थितिकी–तंत्र में वापिस छोड़ने के लिए सूक्ष्म जीव (Micro-organism) क्रियाशील रहते हैं। इस प्रकार यह एक चक्र श्रृंखला हैं, जिसमें हरे पौधे सूर्य से ऊर्जा प्राप्त करके उप–पाचन (Metabolism) क्रिया द्वारा स्टार्च, प्रोटीन और अन्य पदार्थ तैयार करते हैं। और ऊर्जा–प्रवाह अनवरत चलता रहता है। किसी भी एक कड़ी के न रहने से चक्र अधूरा रहेगा और ऊर्जा–प्रवाह बन्द हो जायेगा तथा सम्पूर्ण जीवन–पोषण–तंत्र छिन्न–भिन्न हो जाने के कारण पृथ्वी पर जीवन ही समाप्त हो जायेगा। छोटी–बड़ी भोजन श्रृंखलाएं विभिन्न ट्रॉफिक स्तर पर जुड़ी रहती हैं, तथा जौविक–संरचना संतुलित रहती है। जीव–धारियों के बीच स्थापित अंतर्सम्बंध उनकी संख्या पर नियंत्रण रखता है और वन्यप्राणियों का भी इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है।

2.4 संरक्षण का पूर्व इतिहास

भारतवर्ष में वन्यप्राणियों के संरक्षण का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि ऋषियों–मुनियों की आश्रम परम्परा का। गुरूकुल एवं मुनियों के आश्रम प्राचीन भारत में ज्ञान–विज्ञान के मंदिर थे। इसके अतिरिक्त भारतीय धर्मों में वन्यप्राणियों का किसी न किसी संदर्भ में महत्व प्रतिपादित किया जाता रहा है। हमारे देवी–देवताओं के भी वन्यप्राणियों के प्रति अनुराग की अभिव्यक्ति उनके नामों के साथ जुड़े, अनेक वन्यप्राणियों से होती है।

तीन शताब्दी ईसा पूर्व, महाराजा चन्द्रगुप्त के महामात्य कौटिल्य सबसे पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने वन्य–प्राणि संरक्षण एवं आखेट के नियम बनाये थे। सम्राट अशोक के समय वन्य–प्राणि–संरक्षण कार्य का वृहत विस्तार किया गया। इस प्रकार वन्य–प्राणि–संरक्षण के लिए किये गये उपायों का सर्वप्रथम प्रयास भारत में ही होने के संकेत मिलते हैं। संभव है वन्य–प्राणि–संरक्षण को सर्वोत्तम स्थाने

देने के उद्देश्य से ही भारत में उनका नाम देवी–देवताओं के साथ सम्बद्ध किया गया हो। मुगलों के समय में भी वनों एवं वन्यप्राणियों को कुछ सीमा तक संरक्षण प्राप्त रहा। परन्तु यह संरक्षण उनके कुछ विशिष्ट वन–स्थलों एवं शिकारगाहों तक ही सीमित रहा। दुर्भाग्य से संरक्षण की यह स्थिति धीरे–धीरे बिगड़ती गई और ब्रितानिया–काल में तो फसल सुरक्षा आदि के नाम पर बन्दूकों से वन्यप्राणियों का अनियंत्रित विनाश किया गया। शिकारियों ने भी भारी मात्रा में बेरोक–टोक इनकी हत्यायें की। फसल–सुरक्षा के लिए ग्रामीणों को दी गई बन्दूकों का नवीनीकरण करने के लिए यह मुख्य शर्त अभी पिछले कुछ दशाब्दियों तक प्रचलित थी, कि जो व्यक्ति उसकी बन्दूक द्वारा मारे गये जंगली जानवरों के साक्ष्य प्रस्तुत नहीं कर सकेगा, उसका लायसेंस नवीन नहीं किया जावेगा। विकास के नाम पर भी अरण्यावलियों को तहस–नहस किया गया। वनों का अधिकतम और अवैज्ञानिक दोहन किया गया। आधुनिकीकरण के नाम पर रेलों–सड़कों व नहरों के जाल बिछाये गये। बड़े–बड़े बांध और दैत्याकार कारखाने हमारे सुन्दर–सुन्दर वनों को निगल गये। जनसंख्या द्रुतगति से बढ़ती गई। कभी ''अधिक अन्न उपजाओं'' के नाम पर कभी कॉलोनी व आवास–विकास के नाम पर वनों का क्षेत्र सिकुड़ता चला गया। परिणामस्वरूप वन्यप्राणियों के प्राकृतिक–वास अर्थात् वन समाप्त होते गये। पर्यावरण उनके प्रतिकूल होता गया। मानव के साथ इस लड़ाई में वन और वन्यप्राणि पिछड़ गये। स्तनधारी प्राणियों में 70, पक्षियों में 40 और एम्फीबियन्स में लगभग 20 जातियाँ भारतवर्ष में बहुत शीघ्रता से लुप्त होती जा रही हैं। भारतीय चीता पहले ही लुप्त हो चुका है, जो जमीन पर चलने वाले प्राणियों में सबसे तेज धावक हुआ करता था। बंगाल–टाइगर, सिंह, हांगुल और बारहसिंगा भी केवल कुछ ही स्थानों पर विशेष प्रयासों से बचाये जा सकें हैं। कृष्णमृग 50 वर्ष पूर्व प्रचुर मात्रा में था, अब यह भी खतरें के निशान के समीप पहुंच गया है। घड़ियाल, सौन–चिड़िया, मगर आदि ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जो हमें चेतावनी देने के लिए काफी हैं।

यद्यपि प्राणि–शास्त्र के नियमों के अनुसार, विकास की प्रक्रिया (Evolution) के अन्तर्गत किसी प्राणि–जाति का विलुप्त होना अलग बात है, लेकिन मनुष्य के विस्तारवादी–कार्यों के फलस्वरूप पर्यावरण में अवांछित उथल–पुथल, विशुद्ध व्यावसायिक दोहन, प्राकृतिक–संसाधनों के दुरूपयोग तथा अनियंत्रित व्यापार–विनिमय आदि के कारण होने वाला किसी जाति का विलोप एक भयावह स्थिति है।

विश्वस्तर पर वन्यप्राणियों से प्राप्त सामान की तस्करी ने कस्तूरी मृग, गेंड़ा, फर–सील, घड़ियाल और व्हेल जैसे वन्यप्राणियों को विलोप के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है। सियार और लोमड़ी जैसे प्राणी भी मनुष्य के लालच की गिरफ्त से नहीं बच सकें। अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में कस्तूरी मृग से प्राप्त कस्तूरी, फर–सील से फर, गेंड़ों के सींग और मगर, सांप और घड़ियालों की खालें सोने के भावों से भी महंगी बिकती हैं। तस्करी की यह कहानी यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती, ऐसे अनेक दुर्लभ पौधों और आर्किड्स (बन्दें) चोरी से विदेश ले जाये जाते रहें हैं, जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में

भारी मांग है। ये मूल्यवान पौधे प्रायः विलुप्त होते जा रहे हैं। भारतवर्ष में इंटरनेशनल यूनियन फार कन्सरवेशन एंड नेचुरल रिसोर्सिस (IUCN) ने लगभग 140 ऐसे पौधों की सूची तैयार की है, जो तस्करी एवं पर्यावरण की उथल–पुथल के कारण विलुप्त होने के खतरनाक दौर में हैं।

वनों एवं वन्यप्राणियों का ऐसा सर्वनाश इसलिए भी हुआ है कि पूर्व में इनके विनाश के दुष्परिणामों का ज्ञान बहुत सीमित था और इसका वैज्ञानिक पहलू सन् 1960 के बाद ही अधिक प्रचारित–प्रसारित हुआ। विश्व के प्रबुद्ध जनों और राजनेताओं ने अब स्थिति को सम्भालने के लिए एवं जनमत तैयार करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। 14 जून, 1972 को संयुक्त राष्ट्र ने मानव पर्यावरण पर एक गोष्ठी का आयोजन किया। सितम्बर 1978 में ज़ाइरे में ''इंटरनेशनल यूनियन फार कन्सर्वेशन आफ नेचर एंड नेचुरल रिसोर्सिस'' की बैठक में पर्यावरण संरक्षण पर बल दिया गया। 6 मार्च, 1980 को भारत में विश्व–संरक्षण–युक्ति (World Conservation Strategy) का सूत्रपात स्व. श्रीमती इंदिरा गांधी (पूर्व प्रधानमंत्री भारत) के हाथों सम्पन्न हुआ। संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने 29 अक्टूबर, 1982 को ''वर्ल्ड चार्टर फार नेचर'' को अंगीकार किया। जिसमें विश्व स्तर पर संरक्षण के मुद्दों पर विचार हुआ और एकमत से सबने इसे स्वीकार किया। आई. यू. सी. एन. के अंतर्गत संरक्षण के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सेपला (CEPLA) कमीशन आन एनवाइरेनमेंटल लॉ पालिसी एंड एडमिनिस्ट्रेशन तथा यूनेप (UNEP), यूनाइटिड नेशन्स इन्वाइरेनमेंट प्रोग्राम का गठन हुआ और इस प्रकार संरक्षण के कार्यों में विश्व स्तर पर भी गतिविधियों प्रारम्भ हुई। प्रधान मंत्री श्री राजीव गांधी का 'ग्रह सुरक्षा कोष' (Planet Protection Fund) की स्थापना का प्रस्ताव राष्ट्र कुल देशों के सम्मेलन में विचारार्थ स्वीकार कर लिया गया है।

2.5 वन्यप्राणियों के संरक्षण कि स्थिति

विश्व–खाद्य–संगठन के एक अनुमान के अनुसार उष्ण–कटिबंधीय वनक्षेत्र का 73 लाख हेक्टर क्षेत्रफल प्रतिवर्ष हमारे हाथों से फिसल जाता है। और जनसंख्या विस्फोट के कारण प्रतिवर्ष 25000 वर्गमील उपजाऊ भूमि शहरों में परिवर्तित हो रही है। कम भूमि पर अधिक उपज लेने के उद्देश्य से भारी मात्रा में रासायनिक खाद और फसल–सुरक्षा हेतु अन्य अनेक रसायन उपयोग किये जा रहे हैं। औद्योगिक–क्रांति ने भौतिक सुखों में वृद्धि के साथ–साथ हजारों प्रकार के विषैले रसायन पर्यावरण में घोल दिये हैं। वायुमंडल के साथ–साथ हमारे पानी के 70 प्रतिशत स्त्रोत दूषित हो चुके हैं। समुद्र भी इसकी पूरी गिरफ्त में आ चुके हैं। और अब विषैले प्रदूषक पदार्थों (Pollutents) का यह बोझ मानव, पृथ्वी, वायुमंडल और समुद्रों की क्षमता से अधिक हो चुका है। इस मानव हस्तक्षेप ने वन्यप्राणियों के बहुत से प्राकृतिक–वास नष्ट कर दिये हैं।

बम्बई के एक पर्यावरण विद्वान डॉ. मयूर ने आशंका व्यक्त की है कि अगले तीन दशकों में बम्बई महानगर का एक तिहाई भाग समुद्र में डूब जायेगा, क्योंकि दोनों ध्रुवों पर, तापमान बढ़ने के कारण, वहाँ की बर्फ पिघल कर समुद्रों का तल ऊंचा कर देगी। पिछले 75 वर्षों में ही पृथ्वी का तापमान 1.5 डिग्री बढ़ चुका है। अगर स्थितियाँ ऐसी ही रहीं तो सन् 2030 तक 2° से 3° से. तापमान और बढ़ जाने की आशंका है, तथा वायुमंडल में कार्बन कणों की संख्या भी द्रुतगति ये बढ़ रही है।

सौभाग्य से हमारे देश के संविधान में वन एवं वन्यप्राणियों के संरक्षण की ओर भी ध्यान दिया गया और संविधान की धारा 48 (अ) के अनुसार राज्यों के ऊपर यह जिम्मेदारी है कि वे वन्यप्राणियों एवं वनों का संरक्षण करें, धारा 51 (ऐ) (जी) प्रत्येक नागरिक को यह उत्तरदायित्व सौंपती है कि वह देश के वनों, वन्यप्राणियों एवं जल–स्त्रोतों सहित सम्पूर्ण पर्यावरण की सुरक्षा तथा सुधार करें। वैसे तो भारत में वनों के संरक्षण के लिए भारतीय वन अधिनियम वर्ष 1865 में बनाया गया, पुनः वर्ष 1927 में एक सम्वर्धित रूप में इस अधिनियम को पारित किया गया। वर्ष 1952 में देश की वन नीति को निर्धारित किया गया तथा वर्ष 1972 में प्रथम बार वन्यप्राणि (संरक्षण) अधिनियम पारित कर सम्पूर्ण देश में (जम्मू कश्मीर को छोड़कर) इसे लागू किया गया। जम्मू कश्मीर में भी इसी प्रकार का एक अधिनियम लागू है। वर्ष 1976 में वन तथा वन्यप्राणियों की सुरक्षा के विषय को संविधान की द्वितीय सूची (राज्य सूची) से प्रोन्नत करके तृतीय सूची, समवर्तीय सूची (Concurrent List) में समाहित किया गया। वर्ष 1980 में वन–संरक्षण–अधिनियम लागू हुआ जिसमें किसी भी वन–भूमि को वन कार्यों के विपरीत किसी अन्य कार्य हेतु परिवर्तित नहीं किया जा सकेगा, और अभी भी उपरोक्त अधिनियमों एवं वन–नीति के संशोधन, शासन के विचाराधीन हैं। अक्टूबर, 1983 में राष्ट्रीय वन्यप्राणि कार्य योजना (National Wild Life Action Plan) भी लागू की गई है। भारत शासन ने वर्ष 1981 में एक पर्यावरण विभाग खोला और 19 नवम्बर, 1986 से पर्यावरण अधिनियम लागू किया गया। वर्ष 1980 से 84 तक वन्यप्राणियों हेतु सुरक्षित क्षेत्रों में काफी वृद्धि हुई और 20,000 वर्ग कि.मी. सुरक्षित क्षेत्र, वर्ष 1986 तक बढ़कर 1,00,000 वर्ग कि.मी. हो गये, राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या 19 से बढ़कर 55 और अभयारण्यों की संख्या 247 हो गई। इस प्रकार देश में कुल वन–क्षेत्र का 12 प्रतिशत और देश के कुल भूभाग का 3 प्रतिशत भाग अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय उद्यानों के अन्तर्गत आ गया। वर्ष 1973 से प्रारम्भ की गई ''प्रोजेक्ट टाइगर'' योजना के अन्तर्गत अब 25,000 वर्ग कि.मी. क्षेत्र है। घड़ियाल प्रजनन एवं प्रबंध योजना भी वर्ष 1976 में प्रारम्भ की गई। केन्द्र में भारतीय वन्य–प्राणि–परिषद और राज्यों में भी ऐसी ही परिषदें स्थापित की गई तथा अनेक अशासकीय संस्थाओं को वन्यप्राणियों के संरक्षण में अग्रणी भूमिका के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। वन्यप्राणियों के विषय में शिक्षा आदि का भी व्यापक प्रबंध किया जा रहा है।

यद्यपि 70 के दशक में से पिछले कुछ दशकों में भारतीय उप–महाद्वीप में वन्यप्राणियों का भारी संहार हुआ परन्तु फिर भी हमारे देश में आज लगभग 65,000 प्राणि–प्रजातियां और 45,000 वनस्पति–प्रजातियां उपलब्ध हैं। इनमें कीड़े, मकोड़े, मछलियां एवं सरीसृप–प्रजातियां सम्मिलित हैं। इतनी अधिक विविधता का मुख्य कारण यहां पर उपलब्ध विभिन्न प्रकार के पारिस्थितिकी–तंत्र हैं। चेरापूंजी जैसे अत्याधिक वर्षा वाले क्षेत्र से लेकर कच्छ की सूखी खाड़ी तक, अत्यंत ठंडे लेह–लद्दाख से लेकर दक्षिण के गर्म प्रदेशों तक विभिन्न प्रकार के पारिस्थितिकी–तंत्र यहां मौजूद हैं।

2.6 संरक्षण और विकास आमने–सामने

विकास के नाम पर हमने प्राकृतिक–संसाधनों के संरक्षण के महत्व को स्वीकार नहीं किया और विकास के तथा कथित पक्षधर प्रायः यह मान बैठे हैं, कि प्राकृतिक–संसाधनों के संरक्षण की बात करने वाला प्रत्येक व्यक्ति विकास की गति का विरोधी है। परन्तु यदि धैर्य और गहनता से इन दोनों पक्षों पर विचार किया जाय, तो हम देखते हैं कि हमें विकास और संरक्षण दोनों की ही आवश्यकता है, और विकास के नाम पर संरक्षण की बलि नहीं दी जा सकती। हमें दोनों के मध्य एक समझौते की खोज करनी पड़ेगी। मानवकृतियों एवं नंगी पहाड़ियों से घिरे विशालकाय नगरों को ही हम विकास का प्रमाण मान बैठे हैं। बड़े–बड़े उद्योगों की स्थापना बांधों–नहरों के निर्माण, निर्वनीकरण और आवास–विकास कार्यों, आदि के समय हमें एक ध्यान रखना होगा कि इन कार्यों कि इन कार्यों का हमारे पर्यावरण और अंततः वन्यप्राणियों पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। हमेशा यह आवश्यक नहीं है कि बड़े–बड़े बांध ही हमारी ऊर्जा एवं सिंचाई की समस्याओं को हल कर सकते हैं। इन बड़े बांधों से उस क्षेत्र का पूरा पारिस्थितिकी–तंत्र क्षत–विक्षत हो सकता है और अनेक प्रकार की ऐसी समस्याएँ खड़ी हो सकती हैं जिस पर अभी हमारा वश नहीं है। बाढ़, अकाल, भूमि–कटाव, निर्वनीकरण एवं रेगिस्तान बनने की गति कई बार मानव कृतियों (Artifects) के कारण ही होती है। इस प्रकार एक बार विकास के नाम पर हम पर्यावरण दूषित करते हैं, प्राकृतिक–संसाधनों का अनावश्यक एवं असहनीय सीमा तक दोहन करके पारिस्थितिकीय असंतुलन को जन्म देते हैं और फिर इस असंतुलन के परिणामों से निपटने के लिए भारी राष्ट्रीय सम्पदा का अपव्यय करते हैं। यह एक ऐसा चक्र बनता जाता है जो हमें अपने व्यूह से निकलने ही नहीं देता और हम आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और पारिस्थितिकीय–असंतुलन से उत्पन्न अनेक प्रकार की महामारियों और विषैले जीवाणुओं का शिकार होते चले जाते हैं। इन्हीं विकास के कार्यों को यदि संरक्षण की कसौटी पर जांच–परख कर किया जाय तो हमें वास्तविक लाभ प्राप्त हो सकता है। जैसे एक बहुत बड़े बांध से होने वाली सिंचाई के उद्देश्यों की पूर्ति भूमिगत जल से अनेकों नल–कूपों के द्वारा की जाय तो न केवल कम धनराशि में अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त हो सकते हैं बल्कि पारिस्थितिकीय समस्याओं से भी बचा जा सकता है। अत्यधिक रासायनिक खादों के उपयोग से बच कर हम अपने जल–स्त्रोतों को दूषित होने से बचा सकते हैं और परिणामस्वरूप हम स्वयं तथा हमारे अनेक प्राणि भी सुरक्षित हो जाते हैं। एक सर्वेक्षण में बताया गया है कि अत्यधिक रसायनों के

उपयोग से हमारे 70 प्रतिशत जल स्त्रोत दूषित हो चुके हैं और इस दूषित पानी के कारण बीमार होने से प्रतिवर्ष 730 लाख मानव–दिवसों की क्षति होती है। पहाड़ी एवं भूक्षरण के प्रति संवेदनशील अन्य क्षेत्रों में उत्खनन, मार्ग–निर्माण अथवा अन्य मानवकृतियों के कारण भूस्खलन और मृदाक्षरण से अकल्पनीय क्षति होती है। अतः ऐसे स्थानों को बचाकर अन्य वैकल्पिक स्थानों का चुनाव करना चाहिए। चाहे बड़े–बड़े बांधों का निर्माण कार्य हो या दैत्याकार औद्योगिक–इकाइयों की स्थापना का, हम केवल आर्थिक आंकड़ों के भ्रम–जाल में उस क्षेत्र के सामाजिक एवं पारिस्थितिकी–तंत्र को भुला देते हैं। इसी प्रकार औद्योगिक दुर्घटनाओं के कारण भी अपूर्णीय क्षति होती है, भोपाल गैस कांड इसका एक जीता–जागता उदाहरण है। बड़ी–बड़ी नदियों के तटबंधों को यांत्रिक दीवारों से बांधकर उफनती नदियों के प्रकोप से बचाने के लिए अपार धन खर्च किया जाता है। इस पानी को इसके उद्‌गम स्थलों पर ही नियंत्रित किया जाना चाहिये। मानव–कृतियों के निर्माण के समय उस क्षेत्र के पारिस्थितिकी–तंत्र को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ गंगा नदी से निकली एक नहर के कारण चिल्ला अभयारण्य में हाथियों एवं अन्य वन्यप्राणियों के प्रवासी–मार्ग अवरूद्ध हो गये हैं। इसी नहर को इस क्षेत्र में यदि ऐसा निर्मित किया गया होता कि वन्यप्राणियों को निकलने में भी आसानी होती और इस नहर से उनकी पानी की आवश्यकता भी पूरी हो जाती, तो अधिक उपयुक्त होता। वन्यप्राणि संरक्षण की दृष्टि से विकास कार्यों को हाथ में लेने के समय निम्न बातों का ध्यान अवश्य रखा जाना चाहिए :–

1. झीलों और दलदली क्षेत्रों को सुखाकर खेती या अन्य उपयोग में लाने की प्रक्रिया को उलट कर पुनः झीलों और दलदली क्षेत्र में ही रहने देना चाहिए।
2. नदियों और नालों को सीधी बहने के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए। उनके प्राकृतिक रूप को बने रहने देना चाहिए।
3. जल–स्त्रोतों को उनका उचित महत्व एवं सम्मान दिया जाना चाहिए।
4. जल–स्त्रोतों में औद्योगिक–प्रदूषण समाप्त किया जाना चाहिए। किसी भी उद्योग को प्राकृतिक–जल–स्त्रोत का दोहन करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए।
5. भूमिरक्षण रोकने के उपाय किये जाने चाहिए।
6. ऐसे उद्योगों को प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए जिससे वनों एवं वन्यप्राणियों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुप्रभाव पड़ता हो।

2.7 वन और वन्यप्राणि

वन्यप्राणियों की तीन मुख्य आवश्यकताएँ हैं, भोजन, आवास–स्थल और सुरक्षा के साधन। ये तीनों आवश्यकताएँ वनों पर निर्भर हैं अतः बिना वनों के संरक्षण के हम वन्यप्राणियों के संरक्षण का विचार ही नहीं कर सकते। विकास की निरंतर प्रक्रिया के कारण ही इन वन्यप्राणियों ने स्वयं को वनों के अनुरूप ढाल लिया है। किसी क्षेत्र–विशेष में पाये जाने वाली वनस्पति के अनुरूप ही वहां वन्यप्राणि भी पाये जाते हैं। यह तो सत्य है ही, कि वन्यप्राणियों को वनों की आवश्यकता है, लेकिन उतना ही

सच यह भी है कि वनों को भी वन्यप्राणियों की आवश्यकता है, क्योंकि वे एक दूसरे के पूरक हैं और एक पारिस्थितिकी–तंत्र के ही हिस्से हैं। कठफोंडवा जैसे अनेक पक्षी बहुत से कीड़े–मकोड़े और फफूंदों को खाकर पेड़–पौधों की रक्षा करते हैं। बहुत से वन्यप्राणि जाने–अनजाने में अनेक वनस्पति–प्रजातियों के प्रजनन और पुनरोत्पादन में सहायक होते हैं। अनेक भारी बीजों को ये प्राणि अपने भोजन के रूप में ग्रहण करके ऊंचे शिखरों पर मल–त्याग करके इस वनस्पति के रोपण में सहायता करते हैं, जो साधारण स्थितियों में कभी संभव नहीं हो पाता। वन–क्षेत्र की मृदा में इन मृत–प्राणियों के अवशेष उपयोगी रहते हैं। कभी–कभी वन्यप्राणियों द्वारा खोदी गई वन–भूमि, कुतरी हुई घास और झाड़ियाँ, वनों को पहुंचाई गई हानि के रूप में देखी जाती हैं, परन्तु यह प्रक्रिया भी अंततः वनों के हित में ही है। खोदी गई भूमि, पानी को अधिक सोखने में सहायक होती है और अधिक उर्वरक भी हो जाती है। घास और झाड़ियों को लगातार थोड़ा–थोड़ा कुतर–कुतर कर खाये जाते रहने से वे वनक्षेत्र में आवश्यकता से अधिक नहीं छा सकतीं। वन्यप्राणियों की ऐसी ही अनेक गतिविधियाँ उस पारिस्थितिकी–तंत्र को स्थिर बनाये रखती हैं, ताकि वह उनके लिए सदा उपयोगी बना रहे और जीवीय–अनुक्रम (Biotic Succession) अनुकूलतम स्थिति में रहे।

2.8 वन्यप्राणि–उपयोगिता मूल्यांकन

वन्यप्राणियों की उपयोगिता एवं मान इतनी अधिक एवं विविध हैं कि सभी को आंकना और आर्थिक तुलना करना सम्भव नहीं है। फिर भी वन्यप्राणियों की उपयोगिता का मूल्यांकन निम्न प्रकार से करने का प्रयास किया जा सकता हैः–

2.8.1 आर्थिक

अनेक वन्यप्राणियों का उपयोग भोजन के रूप में किया जाता है। केवल मत्स्योद्योग से ही विश्वभर में लगभग 1000 लाख टन भोजन प्रतिवर्ष प्राप्त होता है। इस भोजन में प्रोटीन की प्रतिशत भी अधिक होती है। मत्स्योद्योग के अतिरिक्त भी अन्य अनेक वन्यप्राणियों के मांस का उपयोग भोजन के रूप में किया जाता है, जिनके विश्वसनीय आंकड़े प्राप्त करना बहुत कठिन है। इनमें समुद्री स्तनधारी जीव, कछुए और अन्य अकशेरूकी प्राणि तथा अनेक आखेट–पशु–पक्षी सम्मिलित किये जा सकते हैं। इन वन्यप्राणियों से प्राप्त मांस आदि के प्रकमण (Processing) और डिब्बा बन्द करने के कार्य से लेकर ढुलाई और विक्रय जैसे कार्यों में अनेक लोगों को रोजगार प्राप्त होता है।

वन्यप्राणियों और उनसे प्राप्त उत्पादों के व्यापार से भी अनेक व्यक्ति जुड़े हुए हैं और भारी लाभ कमाते हैं। हाथी दांत, कस्तूरी, सांप, मगर और घड़ियालों की खालें, फर (Fur), गेंड़े के सींगों और हिरणों के ऐंटलर्स की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारी मांग है और करोड़ों रूपयों का व्यापार प्रतिवर्ष होता है। हाथी दांत का अन्तर्राष्ट्रीय बाजार भाव वर्ष 1976 में 35 डालर प्रति पोंड तथा तेन्दुए की एक खाल

की कीमत 200 डालर प्रति खाल थी। 1976 से 1989 तक इन दरों में भारी वृद्धि हुई है परन्तु यह व्यापार चोरी छिपे ही अधिक चलता है, अतः वर्तमान दरों की सही–सही जानकारी उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर अंकुश लगाने के लिए वर्ष 1973 में एक अन्तर्राष्ट्रीय संधि की गई थी जिसे साइट्स (CITES, Convention on International Trade in Endangered Species of Wild fauna + flora) के नाम से जाना जाता है। अब तक कुल 88 देश इस संधि (समागम) के सदस्य हो चुके हैं। वर्ष 1974 में भी कोलम्बिया ने 50 लाख डालर की खालें और फर निर्यात की थीं। वर्ष 1967–68 में थाईलैंड ने 19 लाख डालर का वन्यप्राणियों का व्यापार किया। वर्ष 1968 में ही अमेरिका की एक औद्योगिक इकाई ने 1098 लाख डालर की वन्यप्राणि खालें आयात करके व्यापार किया था (किंग 1978), गेंडे के सींग और सोन चिड़िया जैसे प्राणी सोने के भावों से भी महंगे बिकते हैं। वन्यप्राणियों द्वारा कभी–कभी आर्थिक क्षति भी की जाती है। जैसे मघुमलाई एवं बांदीपुर के आसपास हाथियों द्वारा चाय–बागानों में क्षति, प्रायः देखी गई है। अन्य स्थानों पर भी हिरणों आदि द्वारा फसलों को हानि पहुंचाई जाती है। शेर, तेन्दुओं, भालू आदि द्वारा पालतू पशुओं एवं जनहानि के प्रकरण भी होते रहते हैं।

2.8.2 वैज्ञानिक मूल्यांकन

अनेक प्रकार की नई दवाईयों के मूल उत्पाद वन्यप्राणियों के विभिन्न अंगों से बनाये जाते हैं। नई–नई दवाईयों के प्रभाव का अध्ययन भी पहले वन्यप्राणियों पर ही किया जाता है। अर्चिन (जल–साही) ने मानव–भ्रूण–विज्ञान (Human Embryology) को समझने में सहायता की है। रेगिस्तान में पाये जाने वाले टोड की सहायता से गर्भधारण करने की स्थिति का अनुमान लगाने में सहायता मिली। लाल मुंह के बंदरों की सहायता से मानव रक्त समूहों के अध्ययन में सुविधा मिली। हरिणों के एंटलरों की सहायता से हम पर्यावरण में रेडियोधर्मिता की मात्रा का पता लगा सकते हैं। मनुष्य की अनेक मनोवैज्ञानिक समस्याओं की अनेक गुत्थियां वन्यप्राणियों के व्यवहार विज्ञान ने सुलझा दी हैं। जीन–बैंक सिद्धान्त के अनुसार हमारे पास वन्यप्राणि प्रजातियों की जितनी विभिन्नता होगी, उतनी ही नई प्रजातियों के उत्पन्न होने की संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त होता है। आज पालतू पशुओं अथवा फसलों के बीजों के जितने भी वर्णसंकर उपलब्ध हो सके हैं, उन सबका भ्रूण–आधार वन्यप्राणि (जन्तु अथवा वनस्पति) ही रहे हैं। यदि इन आधार–प्रजातियों की विविधता कम हो जाय तो अनेक अद्‌भुत एवं उपयोगी वर्णसंकर प्रजातियों की सम्भावनाएँ ही समाप्त हो जायेगी। कई बार वर्णसंकर प्रजातियों को पुनः वन्यप्राणियों से वर्णसंकरित करने पर बहुत उत्साहजनक परिणाम प्राप्त हुए हैं। यह भी देखा गया है कि वर्णसंकर प्रजातियाँ जीव–विज्ञान की दृष्टि से उतनी टिकाऊ और मजबूत नहीं होतीं, और उन पर महामारियों का प्रकोप बहुत शीघ्र और घातक होता है, जबकि इन प्रजातियों की

मातृप्रजाति (Wild-ancestor) अधिक मजबूती से पर्यावरण के ऐसे झटकों को सहन कर लेती हैं और जीवित बची रहती हैं।

पृथ्वी की मृदा को निरंतर उपजाऊ बनाये रखने के लिए सूक्ष्म जीवों (Micro-organisms) का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इन सूक्ष्म जीवों की कमी वाले क्षेत्रों में सघन खेती के परिणामस्वरूप अनेक बार ऐसे अवसर देखने में आये हैं कि वे क्षेत्र–विशेष हमेशा के लिए रेगिस्तान बन गये।

वन्यप्राणि, पर्यावरण के प्रदूषण के खतरों की, समय रहते चेतावनी देने का कार्य भी करते हैं। क्योंकि वन्यप्राणि मनुष्य की तुलना में पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों के प्रति अधिक चेतन और प्रभावित होते हैं, इसलिए पर्यावरण में किसी अशुभ परिवर्तन या प्रदूषण के कारण उनके व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है, जो मनुष्य को चेतावनी देने के लिए पर्याप्त हैं। मनुष्य जाने–अनजाने में अनेक प्रकार के प्रदूषण अथवा नई उत्पादों का उपयोग करता है, नये–नये और विभिन्न प्रकार के उद्योग लगाता है, परन्तु इन गतिविधियों का दूरगामी क्या प्रभाव होगा यह अनुमान लगाने में प्रायः असफल रहता है। ऐसी स्थिति में वन्यप्राणि हमारी सहायता करते हैं, यदि हम लगातार उनके व्यवहार प्रतिमान (Behaviour Pattern) पर अध्ययन जारी रखें।

इस संदर्भ में, 4 मई 1971 को कनाडा के सेंट जीन वियेन्नी नामक कस्बे के अचानक ध्वस्त होकर पृथ्वी के गर्त में समा जाने की घटना का उल्लेख करना उचित होगा। इस क्षेत्र में लगभग 550 वर्ष पूर्व एक भूस्खलन हुआ था और जीवीय अनुक्रम की एक अंतरिम अवस्था में जब वहां की भूमि मनुष्य को रहने योग्य हो गई, तो कुछ कनाडियन–फ्रांसीसी परिवारों ने इस भूमि पर यह नगर विकसित किया। ये परिवार पास ही स्थित एल्यूमिनियम और कागज कारखानों के कर्मचारी थे। 23 अप्रेल 1971 और इसके बाद भी अनेक अवसरों पर इन परिवारों के पालतू पशुओं, कुत्ते–बिल्लियों आदि ने बेचैनी और अजीब–अजीब प्रलाप आदि करके आने वाले अनिष्ट और प्रलय की आशंकाओं का संकेत दिया, परन्तु किसी ने इस ओर विशेष ध्यान ही नहीं दिया। इस क्षेत्र के अनेक वन्यप्राणि पहले ही इस क्षेत्र का परित्याग कर चुके थे। अंततः 23 अप्रेल 1971 की रात्रि में अचानक तेज धमाका हुआ और अचानक ही एक पहाड़ प्रकट हो गया, तथा इस पहाड़ के बाजू में पृथ्वी में 60 मी. व्यास का करीब 25 मीटर गहरा सूराख हो गया व अनेक मकान ध्वस्त हो गये। दिनांक 4 मई 1971 को तो यह पूरा कस्बा ही लावे के साथ बह गया और कुछ हिस्सा जमीन में धंस गया। सैकड़ों मनुष्य और बच्चे और बंधे हुए पशु अपनी जान गंवा बैठे। यदि प्राणियों के द्वारा दी गई चेतावनी को गंभीरता से लिया गया होता तो इस दुर्घटना के दुःखों को कम किया जा सकता था।

डिजिटेलीन, क्विनीन, एवं काल्वीसिन जैसे मूल रूप से प्राकृतिक पदार्थों की खोज ने ही दिल की बीमारी, मलेरिया और गठिया रोग के उपचार में सहायता की है। वाम्बारडियर नामक भृंग (भौंरा)

शत्रु से बचाव के लिए गर्म और बहुत तेज गंध वाली गैस छोड़ता है। ऐसा करने के लिए वह एक ग्रंथि से एक परोक्साइड और दूसरी ग्रंथि से एक क्विनोन नामक पदार्थ छोड़ता है, इन दोनों के मिल जाने से एक छोटा विस्फोट होता है, जिसकी रासायनिक क्रिया राकेटनोदन (Rocket launching) में उपयोग की गई प्रक्रिया से मिलती–जुलती है। यह वन्यप्राणि (भृंग) हजारों वर्ष से इस रासायनिक प्रक्रिया को इस्तेमाल करता रहा होगा, लेकिन हमें इसका ज्ञान नहीं था। अन्यथा राकेटनोदन का रहस्य बहुत पहले ज्ञात हो सकता था। ऐसे ही अन्य अनेक वैज्ञानिक चमत्कार अनेक वन्यप्राणियों के साथ जुड़े हो सकते हैं, जिनका अभी हमें सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है और इन प्राणियों से हमें अभी बहुत कुछ ज्ञान अर्जित करने का अवसर मिलेगा।

2.8.3 आखेट मूल्यांकन

आखेट से हमारे देश में अभी बहुत अधिक आर्थिक लाभ नहीं हो रहा है, क्योंकि अनेक प्रांतों में पूर्व वर्षों में अत्यधिक शिकार होते रहने के कारण प्रचूर मात्रा में आखेट योग्य अधिशेष संग्रह (Shootable Surplus) उपलब्ध ही नहीं हैं। अनेक प्रांतों में विभिन्न वन्यप्राणियों की संख्या इष्टतम संख्या से काफी कम है। ऐसी स्थिति में आखेट के लिए अनुमति देने से यह घनत्व और भी कम हो जाने का भय है। अतः अधिकतर प्रान्तों में आखेट पर पूर्ण प्रतिबंध लगाया गया है। कुछ भारतीय संरक्षणवादी आखेट के नितांत विरूद्ध हैं। परन्तु यदि भावनात्मक पहलू को छोड़कर वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो जब आखेट–योग्य–अधिशेष संग्रह की स्थिति आ जाय तब नियंत्रित आखेट की अनुमति देने में हानि नहीं होनी चाहिए। पाश्चात्य देशों में आखेट और आखेट से जुड़े हुए अन्य धंधों से भारी मात्रा में धनार्जन किया जाता है। और आखेटक अपने मनोरंजन के लिए भारी धन खर्च करने को तैयार रहते हैं। आग्नेय शस्त्रों, मछली पकड़ने के उपकरणों, शिविर–उपकरणों, वाहनों, होटलों आदि से संबंधित अनेक लोगों को रोजगार प्राप्त होता है, और आखेट शुल्क के रूप में भी धन राशि प्राप्त होती है।

2.8.4 पारिस्थितिकीय मूल्यांकन

वन्यप्राणियों का पारिस्थितिकी–तंत्र में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। वन्यप्राणि ऊर्जा–हस्तांतरण–चक्र में उपभोक्ता के स्थान पर स्थित हैं। भोजन श्रृंखला से अलग करके जिन वन्यप्राणियों के व्यवहार का अध्ययन किया गया, उनके परिणाम, प्राकृतिक वास–स्थलों में पारिस्थितिकी–तंत्र से प्रभावित इन्हीं वन्यप्राणियों के व्यवहार के अध्ययन से प्राप्त परिणामों से बहुत भिन्न पाये गये। इससे यह सिद्ध होता है कि पारिस्थितिकी–तंत्र पर वन्यप्राणियों का और वन्यप्राणियों पर पारिस्थितिकी–तंत्र का, उनकी अंतरक्रियाओं के परिमाण में प्रभाव पड़ता है। अतः वन्यप्राणियों के नहीं रहने से पारिस्थितिकीय असंतुलन होने की आशंका बलवती होती है। वन्यप्राणि पारिस्थितिकी पर अध्याय 3 में विस्तार से विवेचना की गई है।

2.8.5 सौंदर्य मूल्यांकन

वन्यप्राणि इतनी विविधता एवं चमत्कारिक रूपों में पाये जाते हैं कि उनके देखने मात्र से ही सौंदर्य सुख प्राप्त होता हैं। लाखों की संख्या में वन्य–प्राणि–प्रेमी प्रतिदिन विश्व के विभिन्न चिड़ियाघरों राष्ट्रीय उद्यानों, अभयारण्यों अथवा उनके अपने बाग–बगीचों में वन्यप्राणियों (पशु–पक्षियों) को देख–देखकर आनन्द प्राप्त करते हैं। इस आनन्द को किसी भी रूपये या डालर में बदलकर नहीं बताया जा सकता। विदेशों से भी अनेक पर्यटक वन्यप्राणियों की एक झलक पाने के लिए भारी धनराशि खर्च करके आते हैं और इस प्रकार पर्यटन से प्रचुर मात्रा में विदेशी मुद्रा अर्जित होती है।

2.8.6 नैतिक मूल्यांकन

अनेक धर्मों और सम्प्रदायों में वन्यप्राणियों की सुरक्षा एवं उनसे प्रेम का व्यवहार करने के उपदेश दिये गये हैं। यह भी मान्यता है कि सभी जीव–मात्र की सुरक्षा करना मनुष्य का धर्म है। हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मों में तो वन्यप्राणियों से प्रेमवत् व्यवहार करने पर बहुत बल दिया गया है। अतः वन्यप्राणियों को फलते–फूलते देखकर ऐसे धर्मप्रेमी व्यक्तियों को आत्मिक सुख प्राप्त होता है। उनकी मान्यता है कि ईश्वर के बनाए हुए सभी प्राणियों में ईश्वर का वास होता है, और प्राणि–मात्र से प्रेम करना ईश्वर से प्रेम और भक्ति करने के ही समान है, तथा ऐसा करने से धर्म की रक्षा होती है, ईश्वर प्रसन्न होते हैं और हम पर दयालु रहते हैं।

2.8.7 वन्यप्राणि–नवीनीकरण योग्य प्राकृतिक संसाधन

प्रकृति से कच्चे माल के रूप में प्राप्त किये जाने वाले पदार्थों को हम प्राकृतिक संसाधन (Natural Resource) की संज्ञा देते हैं। ये संसाधन दो प्रकार के हो सकते हैं, जीव और निर्जीव। जीवित संसाधनों में हम वनस्पति–जीवाष्म और वन्यप्राणियों को मानते हैं, और निर्जीव संसाधनों में कोयला, लौह, अभरक, पेट्रोलियम आदि की गणना की जा सकती है। जीवित संसाधन, निर्जीव संसाधनों से निम्न दो प्रमुख कारणों से उत्तम और भिन्न माने जा सकते हैं :–

(1) यदि इनका संरक्षण किया जाये तो इनका निरंतर उपयोग करते रहने पर भी ये समाप्त नहीं होते हैं, क्योंकि ये नवीनीकरण योग्य हैं अर्थात् स्वयं पुनरोत्पादित होते रहते हैं।

(2) यदि इनका उचित संरक्षण न किया जाये तो ये स्वमेव समाप्त हो जाते हैं। जबकि निर्जीव संसाधनों के विषय में उपरोक्त दोनों स्थितियां लागू नहीं होती।

नवीनीकरण योग्य संसाधन होने के कारण वन्यप्राणियों का महत्व और अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि पुनरोत्पादन के कारण ये संसाधन निरंतर उपयोग हेतु उपलब्ध रहते हैं। परन्तु यह भी शाश्वत सत्य है कि अनवीनीकरण योग्य संसाधनों (Non-renewable Resources) अर्थात् निर्जीव संसाधनों अथना भौतिक संसाधनों के बिना जीव–संसाधन भी जीवित नहीं रह सकते।

वन्यप्राणि–पारिस्थितिकी

अध्याय–3

वन्यप्राणि–पारिस्थितिकी

(WILDLIFE - ECOLOGY)

जब हम वन्य–प्राणियों की शारीरिक–संरचना आदि की बात करते हैं तो जंतु विज्ञान, जब उनकी खाद्यावश्यकताओं पर विचार करते हैं तो वनस्पति–विज्ञान, जब पर्यावरण में उनकी अंतर्क्रियाओं की चर्चा करते हैं तो पारिस्थितिकी (Ecology) और वन्य–प्राणियों के लिए भूमि–प्रदेश के उपयोग के प्रश्न पर भूमि–उपयोग का ज्ञान तथा वन्य–प्राणि–व्यवहार विज्ञान की विशेषरूप में आवश्यकता होती है। इसी प्रकार वन्य–प्राणि–समष्टि के अध्ययन के लिए सांख्यिकी और सुरक्षा व्यवस्था आदि के लिए विधि और नागरिक प्रशासन का ज्ञान भी आवश्यक है। अर्थात् वन्य–प्राणि प्रबंध में भी वन्य–प्राणि–पारिस्थितिकी विषय का मुख्य स्थान है। इस अध्याय में वन्य–प्राणि–पारिस्थितिकी के कुछ चुने हुए विषयों पर संक्षिप्त प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

किसी भी जीव का उसके पर्यावरण से अलग कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव–जन्तु एक जीव–समुदाय का अविभाज्य अंग होता है। और ये सभी जीव एक ऐसे पारिस्थितिकी–तंत्र के भी अंग होते हैं जिसमें ये जीव स्वयं तथा उस पर्यावरण के अन्य निर्जीव पदार्थ सम्मिलित रहते हैं। कभी भी ऐसा कोई समय नहीं होता है, जब ये पदार्थ और जीव–समुदाय की अंतर्क्रियाएँ बन्द हों। उदाहरणार्थ सांस के रूप में वायु का प्रयोग करके कार्बन डाइआक्साइड मिश्रित वायु बाहर निकालना, भोजन और पानी पीकर मल–मूत्र के रूप में त्यागना, और एक जीव का दूसरे जीव को भोजन के रूप में उपयोग करना। किसी भी प्राणी के शव–विच्छेदन करने पर उसके शरीर के अनेक भागों में अनेक प्रकार के बैक्टीरिया और जीवाणु पाये जाते हैं, इन बैक्टीरिया और जीवाणुओं पर वह प्राणी निर्भर है और ये जीवाणु उस प्राणी पर निर्भर होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव–समुदाय जीवन–पोषण–तंत्र की एक बहुत जटिल प्रक्रिया के कारक हैं, कोई भी जीव क्योंकि जीव–समुदाय के पारिस्थितिकीय–तंत्र में अंतरक्रियाओं से सम्बद्ध है, अतः ऐसे किसी भी जीव के प्रबंध के लिए किये गये किसी भी उपाय का अच्छा या बुरा प्रभाव सम्पूर्ण समुदाय पर पड़ेगा। जैसे कि किसी वन–क्षेत्र से एक वृक्ष के काट देने से केवल उस क्षेत्र से वह वृक्ष ही कम नहीं होता है, बल्कि उसके वहां न रहने से वहां स्थित अन्य अनेक वनस्पति एवं जन्तु–प्रजातियों की जीवन–शैली में अंतर आ जाता है। इसी सिद्धांत का उपयोग करके हम वनों में सिल्विकल्चर के नाम से किसी प्रजाति विशेष को बढ़ने और दूसरी के समाप्त होने या घट जाने के अवसर उपलब्ध कराते हैं। इस एक वृक्ष के न रहने से ही अनेक कीड़े–मकोड़े और छोटे जन्तुओं के कम या अधिक हो जाने के भी अवसर बन जाते हैं। अर्थात्

वन्य–प्राणि प्रबंध के किसी भी कार्य से अनेक घटक (कारक) साथ–साथ कार्य करते हैं और हमें सबका ध्यान रखते हुए ही उपयुक्त प्रबंध–कार्य का चुनाव करना होता है।

वन्य–प्राणी प्रबंध–तकनीकों के अध्ययन से पूर्व वन्य–प्राणि पारिस्थितिकी के कुछ चुने हुए विषयों की सूक्ष्म–व्याख्या नीचे दी गई है जो आगे अध्याय में वन्य–प्राणि प्रबंध की तकनीकों में बार–बार उपयोग की गई है।

3.1 पारिस्थितिकी (ECOLOGY)

पारिस्थितिकी शब्द आंग्ल–भाषा के इकोलोजी शब्द का हिन्दी अनुवाद है। मूल रूप से ग्रीक भाषा के Oikos के साथ Logy अनुलग्न के रूप में स्थित होने से Ecology शब्द बना। ग्रीक में Oikos का अर्थ है ग्रहस्थी। इस प्रकार Ecology अर्थात् पारिस्थितिकी की शाब्दिक परिभाषा हुई, ''ऐसा विज्ञान जिसमें पृथ्वी की 'गृहस्थी' अर्थात् पृथ्वी पर रहने वाले समस्त जीव–निर्जीव पदार्थों के अंतर्सम्बन्धों और अंतर्क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।''

पारिस्थितिकी को प्रकृति की संरचना और क्रिया–कलापों का विज्ञान भी कहा जा सकता है, जिसमें जीव और पर्यावरण के संबंधों में विभिन्न प्रतिरूपों (Patterns) का अध्ययन सम्मिलित हैं।

3.2 वायुमंडल (ATMOSPHERE)

पृथ्वी के चारों ओर नाइट्रोजन और आक्सीजन के साथ कुछ थोड़ी मात्रा में कार्बनडाइ आक्साइड और ओजोन जैसी कुछ अन्य गैसों के मिश्रण को वायुमंडल कहा जाता है। पृथ्वी के धरातल पर भौतिक, रासायनिक और जैविक–प्रक्रियाओं पर वायुमंडल का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। आक्सीजन सांस लेने और कार्बनिक पदार्थों के खनिजों के निर्माण में, कार्बन डाइआक्साइड पौधों में संश्लेषण (Photosynthesis) प्रक्रिया में, और ओजोन–छत्र सूर्य की अल्ट्रावायलेट (पराबेंगनी) किरणों, जो जीवों के लिए हानिकारक होती हैं, को रोकने के काम आती हैं।

वैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि चन्द्रमा की तरह पृथ्वी पर भी पहले वायुमंडल नहीं था। वायुमंडल का निर्माण हमारे इस ग्रह के विकास (Evolution) के दौरान भूगर्भीय प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप हुआ। वायु–मंडल के विकास के क्रम में ही स्थल–मंडल एवं जल–मंडल का अभ्युदय हुआ। और जब वायुमंडल में पर्याप्त मात्रा में आक्सीजन जमा हो गई, तब विकास के अगले चरण के रूप में एक जटिल प्रक्रिया से गुजरते हुए ''जीव'' (Organism) का विकास हुआ।

3.3 पर्यावरण (ENVIRONMENT)

संक्षेप में ऊपर बताया गया है कि विकास के फलस्वरूप पृथ्वी पर भूमि, जल, वायु और जीवों का अभ्युदय हुआ। पृथ्वी पर उपलब्ध इन पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक जीवित पदार्थ अर्थात् जीव–जन्तु और दूसरे निर्जीव पदार्थ अर्थात् भूमि, जल और वायु। पहले को जीवीय घटक (Biotic Component) और दूसरे को जीवेत्तर घटक (Abiotic Component) भी कह सकते हैं।

"किसी जीव के रहने के स्थान और उस स्थान पर पाये जाने वाले ऐसे जीवीय और अजीवीय पदार्थों जिनके साथ यह जीव पारस्परिक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष क्रियाओं से सम्बद्ध रहता है, को मिलाकर बने कारक को उस जीव का पर्यावरण कहते हैं।"

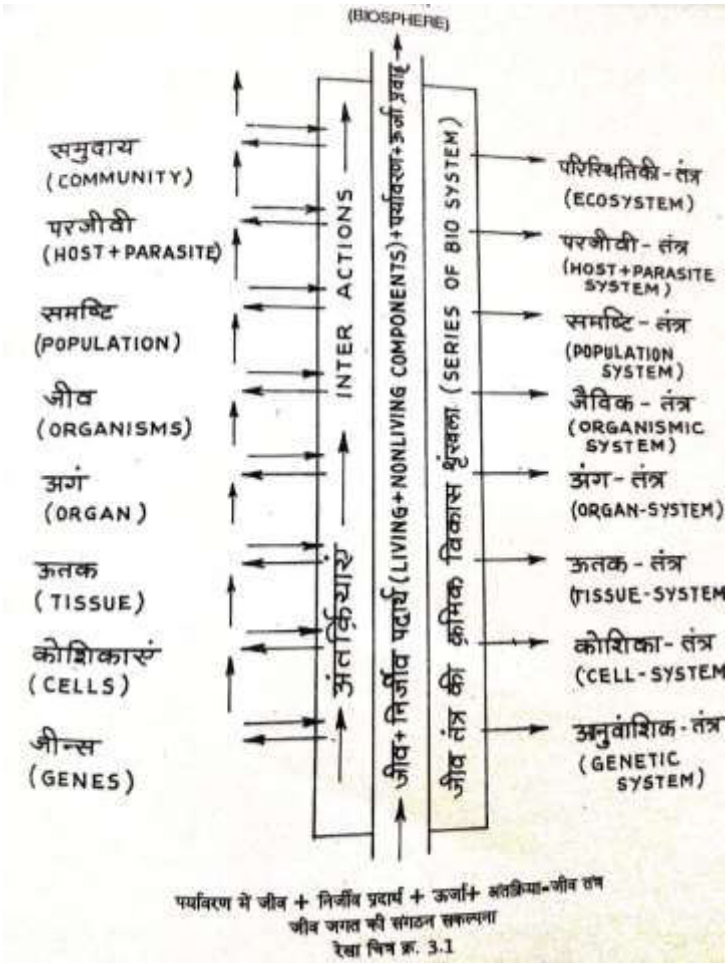

पर्यावरण में जीव + निर्जीव पदार्थ + ऊर्जा+ अंतक्रिया-जीव तंत्र
जीव जगत की संगठन संकल्पना
रेखा चित्र क्र. 3.1

3.4 जीव–जगत की संगठन संकल्पना (Organizational Concept of the Living World)

पर्यावरण के जीव और निर्जीव पदार्थों की पारस्परिक अंतक्रिया के फलस्वरूप ऊर्जा–प्रवाह का क्रम निरंतर चलता रहता है। पृथ्वी से आवश्यक खनिज लवण व पानी और सूर्य की उष्णता से पौधे उपपाचन क्रिया द्वारा स्टार्च और प्रोटीन जैसे पदार्थों के रूप में ऊर्जा भंडारण करके शाकाहारी प्राणियों

को ऊर्जा हस्तांतरित करते हैं। यह ऊर्जा मांसाहारी–प्राणियों के मरने, सड़ने, गलने से होती हुई पुनः पर्यावरण में वापिस हो जाती हैं। इस प्रकार एक ऊर्जा–प्रवाह निरंतर उपलब्ध रहता है। ऊर्जा–प्रवाह पर आगे विस्तार से लिखा गया है। यहां हम यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि पर्यावरण में उपलब्ध इस ऊर्जा–प्रवाह और पदार्थों की अंतर्क्रियाओं के कारण जीव–जगत में अनेक जीव–तंत्र बने और इन तंत्रों को हम जीव–जगत के संगठन–स्तरों (Levels of Organization) के नाम से जानते हैं।

रेखा चित्र (क्र. 3.1) के द्वारा विभिन्न जीव–तंत्रों का विकास और उनका स्तर समझाया गया है। सभी जीव–निर्जीव पदार्थ अपने भौतिक पर्यावरण में पारस्परिक अंतर्क्रियाओं के कारण विभिन्न जीव–तंत्रों का निर्माण करते हैं। यद्यपि ये जीव–तंत्र स्वयं में पूर्ण हैं, परन्तु अपने पर्यावरण में अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्द्ध भी हैं।

पदार्थों एवं पर्यावरणीय–ऊर्जा से जीन्स–अनुवांशिक तंत्र का, कोशिकाएँ–काशिका तंत्र का, ऊतक–ऊतक तंत्र का, अंग–अंग तंत्र का, और इस प्रकार अंततः जीव–समुदाय पर्यावरण के पदार्थों और ऊर्जा की अंतर्क्रिया से पारिस्थितिकी–तंत्र का निर्माण करते हैं। इसी रेखा–चित्र से यह भी स्पष्ट होता है कि किस प्रकार अनेक जीन्स मिलकर कोशिका, अनेक कोशिकाएँ मिलकर ऊतक, अनेक ऊतक मिलकर एक अंग और अनेक अंग मिलकर एक जीव के स्तर तक पहुंचते हैं, और अनेक जीव मिलकर एक समष्टि और अनेक समष्टि मिलकर एक समुदाय या जीवीय–समुदाय के स्तर बनाते हैं। अनेक समुदायों से मिलाकर बने अनेक पारिस्थितिकी–तंत्र अंततः जीव–मंडल (Biosphare) कहलाते हैं। जीव–मंडल अंततः स्थल–मंडल (Lithosphere) और जल–मंडल (Hydrosphere) में समाहित हो जाते हैं।

3.5 पारिस्थितिकी–तंत्र (ECOSYSTEM)

जैसा कि रेखाचित्र क्र. 3.1 में दर्शाया गया है, जीव–समुदाय और उसके भौतिक पर्यावरण की अंतर्क्रिया से व्युत्पन्न तंत्र को उस समुदाय का पारिस्थितिकी–तंत्र कहते हैं। पारिस्थितिकी–तंत्र में निम्न मुख्य घटक होते हैं।

उपरोक्त प्रदर्श से यह स्पष्ट हो जाता है, कि किस प्रकार एक पारिस्थितिकी–तंत्र में जीवीय–घटक, अजीवीय–घटकों के साथ अंतर्क्रिया–रत रहकर स्वपोषी–जीवों को जीवन–पोषण–योग्य तंत्र उपलब्ध कराते हैं, और फिर यही ऊर्जा उपभोक्ता जीवों से होते हुए मृत–पोषी जीवों द्वारा पुनः पारिस्थितिकी–तंत्र में मुक्त कर दी जाती है। जन्म–मृत्यु और अन्य प्रकार के परिवर्तन होते रहने पर भी तंत्र लगभग स्थायी रहता है। अजीवीय–घटकों अर्थात् भूमि–प्रदेश, जलवायु और मृदा के रासायनिक गुण उस क्षेत्र में जीवधारियों के साथ मिलकर पारिस्थितिकी–तंत्र की विशेषताओं का निर्माण करते हैं। और इसीलिए अलग–अलग भूमि–प्रदेश में अलग–अलग प्रकार के पारिस्थितिकी–तंत्र पाये जाते हैं।

किसी एक पारिस्थितिकी–तंत्र के विकास में हजारों वर्ष का समय लगता है। एक छोटा सा तालाब भी अपने आप में एक पारिस्थितिकी–तंत्र हो सकता है और पूरा तराई या अन्य मैदानी क्षेत्र एक या अनेक पारिस्थितिकी–तंत्र वाले क्षेत्र हो सकते हैं। जिन–जिन क्षेत्रों का वातावरण और जीव–संरचना अलग–अलग होगी, उनके पारिस्थितिकी–तंत्र भी भिन्न होंगे। किसी तालाब का पारिस्थितिकी–तंत्र किसी अन्य नदी या समुद्र के तंत्र से भिन्न होगा। किसी एक नदी के ही भिन्न–भिन्न भूमि–प्रदेशों में भिन्न–भिन्न पारिस्थितिकी–तंत्र होंगे।

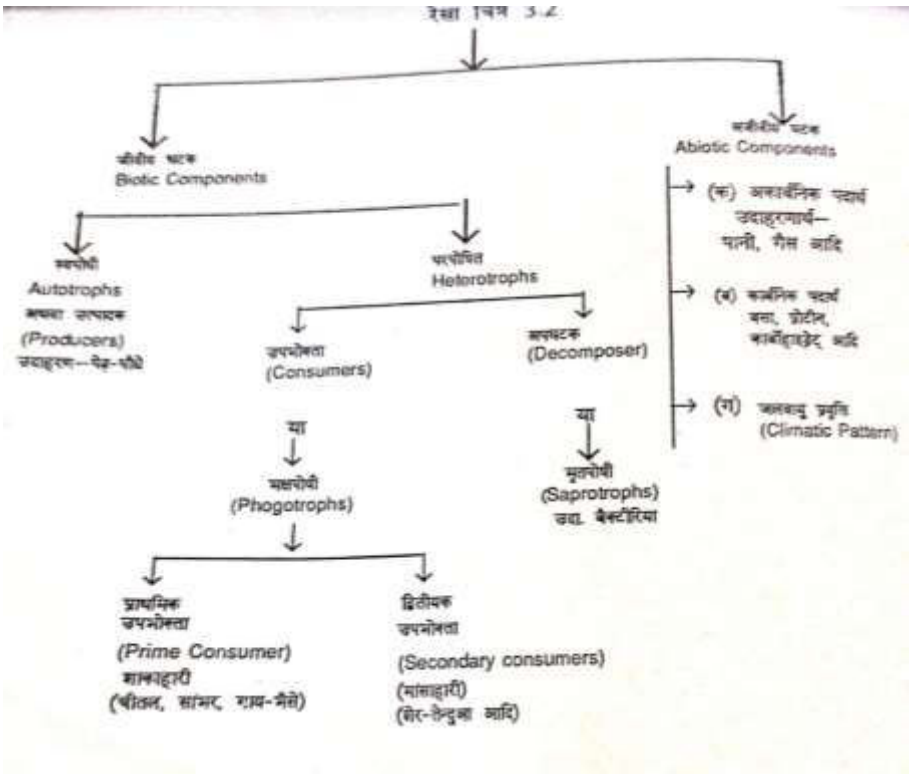

3.6 ऊर्जा प्रवाह (ENERGY-FLOW)

अब तक हम यह समझ चुके हैं, कि सूर्य से प्रकाश और ऊष्मा के रूप में प्राप्त ऊर्जा, वनस्पति द्वारा प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण की जाकर उपपाचन द्वारा स्टार्च, प्रोटीन, शर्करा आदि के रूप में संग्रह की जाती है। शाकाहारी जन्तु अपनी यही ऊर्जा अप्रत्यक्ष रूप से इन पौधों द्वारा संचित कार्बनिक–पदार्थों के रूप में ग्रहण करते हैं। परन्तु मांसाहारी प्राणी अपनी आवश्यकतानुसार ऊर्जा शाकाहारी प्राणियों के शरीर में संचित वसा एवं प्रोटीन आदि के रूप में उन्हें खाकर, प्राप्त करते हैं। शाकाहारी प्राणियों के उपयोग से बचे पेड़–पौधों के मरने, पत्तियों के झड़ जाने, जीव–जन्तुओं के मरने और मांसाहारी प्राणियों के भी मरने पर यह ऊर्जा बैक्टीरिया, फंगस एवं सूक्ष्म जीवों आदि के द्वारा पुनः वातावरण में मुक्त हो जाती है, और फिर से पौधों द्वारा मृदा के रूप में उपयोग की जाती है।

परन्तु ऊर्जा का यह हस्तांतरण कभी भी शत–प्रतिशत नहीं होता। सूर्य से प्राप्त ऊर्जा का केवल 1 प्रतिशत भाग ही पौधों द्वारा उपयोग किया जाता है और इसका अधिकतर भाग वातावरण में ही खो

जाता है। परन्तु फिर भी पौधे (वनस्पति) ही ऐसे मुख्य संसाधन हैं जो सूर्य–ऊर्जा का अधिकतम उपयोग करके भोज्य–पदार्थों में बदलते हैं। क्योंकि प्रत्येक स्तर पर ऊर्जा–ह्रास होता है, अतः ऊर्जा–हस्तांतरण की इस प्रक्रिया को हम एक पिरामिड के रूप में (चित्र 3.4) प्रदर्शित कर सकते हैं। क्योंकि अधिक ऊर्जा ग्रहण करने के लिए अधिक पौधों की आवश्यकता होगी और फिर उनसे हस्तांतरित ऊर्जा में ह्रास होने के कारण दूसरे स्तर पर स्थित शाकाहारी प्राणियों की जीव–मात्रा (Biomass) अपेक्षाकृत कम होगी और मांसाहारी जीव–मात्रा क्रमशः और भी कम हो जायेगी। यह उदाहरण एक सरलतम ऊर्जा–प्रवाह क्रम हो सकता है। अनेक प्राणी ऐसे भी हैं, जैसे मनुष्य, जो शाकाहारी और मांसाहारी अथवा प्राथमिक उपभोक्ता और द्वितीयक उपभोक्ता, दोनों ही स्तर पर पाये जाते हैं।

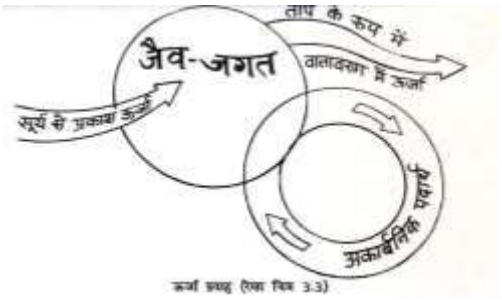

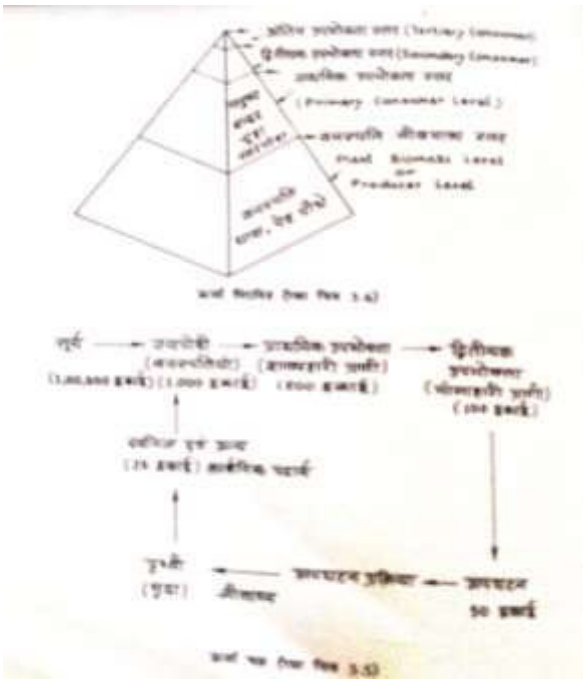

इस रेखीय प्रदर्श को (चित्र 3.4) एक पिरामिड के रूप में भी प्रदर्शित किया जा सकता है। ऊर्जा के हस्तांतरण के समय ह्रास के अनेक कारण हैं, जैसे उपपाचन और रासायनिक प्रक्रियाओं में उष्मा का ह्रास, आदि।

उपरोक्त पिरामिड एवं चित्र 3.6 से स्पष्ट है कि अंतिम उपभोक्ता को संरक्षण देने के लिए द्वितीयक उपभोक्ता और उसी क्रम में प्राथमिक उपभोक्ता और अंततः वनस्पति जीव–मात्रा का प्रचूर मात्रा में होना अत्यंत आवश्यक है। अर्थात् शेरों के संरक्षण के लिए केवल कुछ चीतल पाल लेने से संरक्षण होने वाला नहीं है, जब तक इस पिरामिड का आधार वनस्पति जीव–मात्रा सुदृढ़ नहीं होता। इस पिरामिड में दिखाई गई विभिन्न स्तरों की सीमाएँ एकदम निश्चित नहीं होती बल्कि एक दूसरे पर आश्रित होने के कारण तथा परभक्षण की मात्रा कम ज्यादा होते रहने के कारण ये सीमाएँ भी घटती–बढ़ती रहती हैं। परन्तु आवश्यक अनुपात से अधिक घट–बढ़ का उस पूरे पारिस्थितिकी–तंत्र पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। किसी पारिस्थितिकी तंत्र में विकास के क्रम में विकसित प्रजाति ही अधिक टिकाऊ और संतुलन बनाए रखने में सहायक होती है, बाहर से किसी प्रदेश से या भिन्न पारिस्थितिकी तंत्र से आयातित प्रजाति का कृत्रिम प्रवेश अनेक बार समस्याओं का जनक बन जाता है, उदाहरणार्थ लेन्टाना कैमरा आज पूरे भारत में एक त्रासदी के रूप में छाया हुआ हैं।

3.7 भोजन श्रृंखला (FOOD - CHAIN)

पारिस्थितिकी–तंत्र में ऊर्जा–प्रवाह की उस प्रक्रिया को, जिसमें ऊर्जा एक स्त्रोत से दूसरे जीव स्त्रोत में खाने और खाये जाने के श्रृंखला–क्रम में, हस्तांतरित होती रहती है, भोजन–श्रृंखला कहते हैं।

संक्षेप में यह भी कहा जाता है कि ''पारिस्थितिकी–तंत्र में ऊर्जा जिन भागों में प्रवाहित होती है'' उसे भोजन–श्रृंखला कहते हैं।

सरलतम भोजन श्रृंखला निम्न उदाहरण से समझी जा सकती है :–

ऊर्जा ऊर्जा ऊर्जा

(1) सूर्य ⟶ घास (मैदान में) ⟶ जंगली चूहा ⟶ बाज पक्षी–

अथवा

(2) सूर्य ऊर्जा ⟶ घास ⟶ कीट पतंगे ⟶ मेंढ़क ⟶ सर्प ⟶ मोर ⟶ सियार (भौमिक भोजन श्रृंखला का एक उदाहरण)

और

(3) सूर्य ऊर्जा ⟶ ऐलजी ⟶ प्रोटोजोआ ⟶ प्राणि–प्लवक ⟶ छोटी मछली ⟶ बड़ी मछली (जलीय भोजन श्रृंखला का एक उदाहरण)

इसमें स्वपोषी से चलकर प्राथमिक उपभोक्ता से होकर ऊर्जा द्वितीयक उपभोक्ता तक पहुंच गई। परन्तु प्रकृति के सभी मार्ग इतने सरल नहीं होते। एक–एक भोजन श्रृंखला में अनेक छोटे–छोटे भोजन–जाल (Food Webs) सम्मिलित रहते हैं। आवश्यक नहीं है, कि उपरोक्त उदाहरण में दिया

गया जंगली चूहा केवल मैदान की घास ही खाता रहा हो, वह अन्य अनेक फल–फूल खा सकता है, इसी प्रकार बाज–पक्षी चूहे के अतिरिक्त अन्य पक्षियों को भी खाता है। और चूहे को बाज–पक्षी के बजाय अन्य कोई बीजल, जंगली–बिल्ली या उल्लू आदि भी खा सकते हैं। बाज–पक्षी के शरीर में भी अनेक प्रकार के परजीवी उसके ऊतकों को नष्ट कर सकते हैं। इस प्रकार भोजन–श्रृंखला में अनेक जटिल भोजन–जाल सम्मिलित रहते हैं। भोजन–जाल और कुछ नहीं भोजन–श्रृंखला के ही आपस में गुंथे हुए स्वरूप हैं, जो एक जीव–समुदाय में एक से अधिक भोजन–श्रृंखलाओं के विद्यमान रहने से बन जाते हैं।

भोजन श्रृंखला की विशेषताएँ :–

(1) भोजन–श्रृंखला ऊर्जा–हस्तांतरण की श्रृंखला के विभिन्न परस्पर आधारित पदों (Inter-connected links) को जोड़ने से बनती है।

(2) एक पद (Link) से दूसरे पद को ऊर्जा हस्तांतरण करते समय सम्पूर्ण ऊर्जा हस्तांतरित नहीं होती। बहुत सी ऊर्जा की मात्रा पारिस्थितिकी–तंत्र में खो जाती है।

(3) ऊर्जा के ह्रास को पूरा करने के लिए निम्न–स्तर पर अधिक और उच्च–स्तर पर कम पद होने चाहिए।

(4) भोजन श्रृंखला में अनावश्यक असंतुलन सम्पूर्ण जीव–मंडल को प्रभावित करता है।

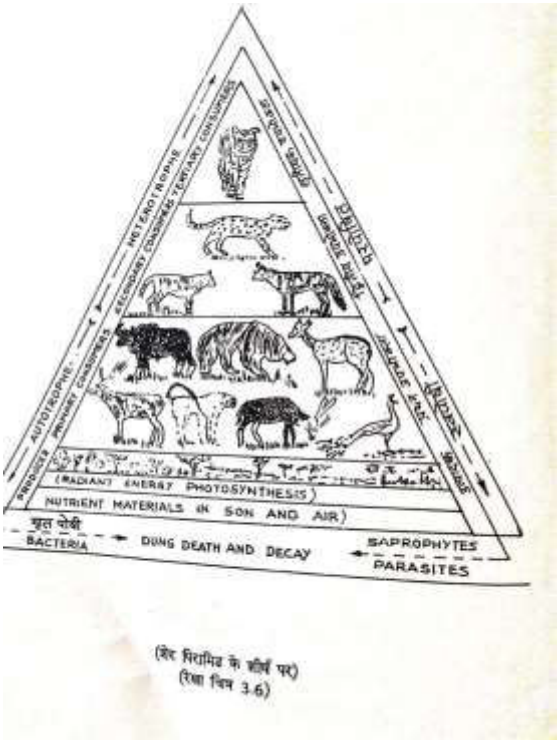

(शेर पिरामिड के शीर्ष पर)
(रेखा चित्र 3.6)

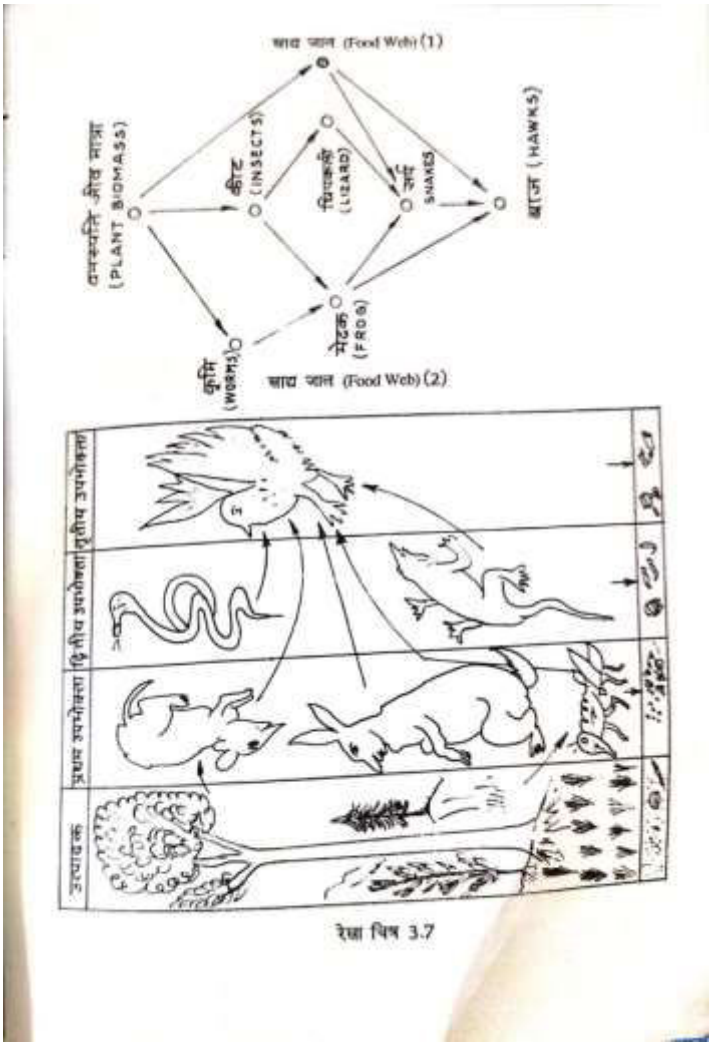

रेखा चित्र 3.7

3.8 पोषक–चक्र (NUTRIENT-CYCLE)

मृदा में पाये जाने वाले खनिज–पदार्थ पौधों की जड़ों द्वारा ग्रहण किये जाकर उनकी जड़ों, तनों, पत्तियों एवं फलों में संग्रहीत कर लिए जाते हैं और प्राणियों द्वारा खाये जाने पर उनके शरीर में कुछ समय के लिए ऊतकों में संग्रहीत रहते हैं, परन्तु अंततः इन प्राणियों के मरने के बाद अपघटन (Decomposition) के कारण पुनः मृदा में समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार किसी नाइट्रेट या फास्फेट का एक अणु बार–बार मृदा से जीवों में होता हुआ पुनः मृदा में फिर से उपयोग होने के लिए वापस आ जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये पोषक–तत्व अधिकतर समय पौधों या प्राणियों के शरीरों में संग्रहीत रहते हैं और बहुत थोड़े समय के लिए जैसे ही मुक्त होते हैं, फिर से मृदा के माध्यम से पौधों द्वारा ग्रहण कर लिए जाते हैं। जितने समय तक ये तत्व पौधों या प्राणियों के शरीर में संग्रहीत रहते हैं

उतने समय, मृदा में बहुत कम मात्रा में पोषक–तत्व बचते हैं। अधिकतर उष्ण कटि–बंधीय वनों की मृदा अधिक उपजाऊ न होते हुए भी वहां अच्छे वन उगते हैं, क्योंकि इन वनों की पत्तियों आदि से पोषक–तत्वों का चक्र बना रहता है। परन्तु यदि इन वनों को नष्ट कर दिया गया तो वहां पोषक–तत्वों का चक्र समाप्त हो जायेगा और यह भूमि बंजर हो जाएगी।

अधिकतर पोषक–तत्व चट्टानों के अपघटन और वायु मंडल से वर्षा के पानी के साथ या जीवाष्मों द्वारा परिवर्तित होते हैं। वायुमंडल में बिजली कड़कने से वायुमंडल की कुछ नाइट्रोजन नाइट्रेट में बदल जाती है। और मृदा में मिल जाती है। कुछ बैक्टीरिया भी नाइट्रोजन परिवर्तित करने का कार्य करते हैं।

उष्ण कटिबंधीय और शीतोष्ण वनों में नाइट्रोजन पोषक–चक्र की स्थिति निम्न तालिका में दी गई है। (स्त्रोत ओबिगंटन 1962)

3.1 तालिका–नत्रजन पोषक–चक्र

वन प्रकार	कुल मात्रा ग्राम / मी^{2}	नत्रजन प्रतिशत जीव मात्रा में	नत्रजन प्रतिशत मृदा में
शीतोष्ण वन	821	6	94
उष्ण कटिबंधीय वन	211	58	42

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि शीतोष्ण वनों में अधिकतर पोषक–तत्व मृदा में पाये जाते हैं, जबकि इसके विपरीत उष्ण–कटिबंधीय वनों में एक तो शीतोष्ण वनों की तुलना में कुल पोषक–तत्वों की मात्रा ही बहुत कम होती है, और इस उपलब्ध मात्रा का भी 50 प्रतिशत से अधिक भाग जीव–भार (Biomass) में उलझा रहता है। केवल 50 प्रतिशत से भी कम मात्रा मृदा में शेष रहती है। अतः यदि उष्ण–कटिबंधीय वनों में किसी भी कारण से वन विनाश होता है, तो वनों के दुबारा पनपने के आसार समाप्त हो जाते हैं, क्योंकि मृदा में वनों की पोषण करने की पूर्ण क्षमता शेष नहीं रहती। यही कारण है कि उष्ण–कटिबंधीय वनों में डहिया खेती एक बहुत नुकसानदेह परम्परा है। उष्ण–कटिबंधीय वनों में डहिया खेती के कारण उस क्षेत्र की मृदा कठिनाई से एक वर्ष खेती की उपज दे सकती है और इसी अवधि में उसकी मृदा में पोषक तत्व समाप्त हो जाते हैं, तथा शेष बह जाते हैं। इस पोषक–चक्र को पुनः स्थापित करना आसान कार्य नहीं हैं, क्योंकि शीतोष्ण वनों में यह भौतिक विधियों से पुनः स्थापित या जीवित रखा जा सकता है, जबकि उष्ण–कटिबंधीय वनों में यह मूलतः जैविक–प्रक्रिया (Biological Process) पर निर्भर है। शीतोष्ण वनों में पोषक–तत्वों का भंडारण प्रतिशत मृदा में इसलिए अधिक होता है क्योंकि इन वनों में जीव–मात्रा बहुत कम होती है। भूस्तर और मध्य–स्तर प्रायः खाली रहता है। अतः पोषक–तत्वों का जीव–मात्रा में कम उपयोग होता है, फलस्वरूप अधिकतर पोषक

तत्व मृदा में शेष बचे रहते हैं। शीतल जलवायु होने के कारण भी मृदा में संग्रहीत पोषक तत्व कई वर्षों तक उपयोगी बने रहते हैं।

इसके विपरीत उष्ण–कटिबंधीय वनों में प्राकृतिक संसाधनों से जितनी भी पोषक–तत्वों की मात्रा बनती है, उसका अधिकतर भाग इन वनों में पाई जाने वाली बेशुमार वनस्पति द्वारा अपने ऊतकों में संग्रह कर ली जाती है। क्योंकि इन वनों में भू–स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक अनेक प्रकार के वनस्पति और उन पर निर्भर अनेक जंतु विद्यमान रहते है, अर्थात् जीवमात्रा बहुत अधिक रहती है। अधिक जीवमात्रा से यद्यपि अधिक मात्रा में पोषक–तत्व मुक्त होकर मृदा में मिलते भी हैं, लेकिन ये तत्व पुनः वहां उपलब्ध वनस्पति और जन्तुओं द्वारा तत्काल उपभोग कर लिए जाते हैं, और मृदा में पुनः पोषक–तत्व कम हो जाते हैं। इस प्रकार उष्ण–कटिबंधीय वन यद्यपि अधिक जीव मात्रा को पोषित करते हैं, परन्तु यदि यह जीव–मात्रा इस वन से निकाल ली जाए या इसका किसी कारण से विनाश हो जाय तो वहां शेष मृदा में अधिक पोषक–तत्व नहीं बचते या बहुत कम बचते हैं, जो एकाध वर्ष में ही बह जाते हैं, या अन्य प्रकार से समाप्त हो जाते हैं। बिना पोषक–तत्वों वाली इस मृदा में अब वन उगाना या अन्य कोई जीव–मात्रा को पोषित करने की शक्ति समाप्त हो जाती है, और अंततः यह भू–भाग बंजर या रेगिस्तान बन जाते हैं। इससे यह चेतावनी मिलती है कि उष्णकटिबंधीय वनों में जीवन–पोषक–तंत्र और पोषक–चक्रों के प्रति हमें अधिक सचेत रहना चाहिए।

3.9 जल–चक्र (HYDROLOGIC-CYCLE)

पारिस्थितिकी–तंत्र में जल–प्रवाह के मुख्य स्त्रोत समुद्र हैं। सूर्य के ताप से समुद्र का पानी वाष्पीकरण द्वारा वायुमंडल में पहुंचता है, और फिर पृथ्वी पर वर्षा के रूप में गिरता है। पृथ्वी पर पेड़–पौधों, नदी–नालों और तालाबों आदि पर गिरते समय भी कुछ पानी वापस वायुमंडल में वाष्प के रूप में पहुंच जाता है, और शेष पृथ्वी में सोखें जाने पर, कुछ तो वनस्पति द्वारा या प्राणियों द्वारा उपभोग कर लिया जाता है तथा कुछ भूमिगत–जल के रूप में नदी–नालों में पहुंचते हुए समुद्र में गिरता है और कुछ वाष्पीकरण से सीधे वायुमंडल में पहुंच जाता है। जो पानी पेड़–पौधों या प्राणियों द्वारा उनके ऊतकों में संग्रहीत हो जाता है, वह भी अंततः वायुमंडल में मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अधिकतर पानी समुद्र में लौटकर आ जाता है और फिर वही चक्र दुहराया जाता है। इस चक्र को जल–चक्र कहते हैं। आरेख क्रं. 3.8 और 3.9 में यह चक्र समझाने का प्रयास किया गया है।

जल सम्पूर्ण जीव–जगत के लिए सबसे आवश्यक एवं उपयोगी घटक है। जगत की सर्वाधिक जल की मात्रा समुद्रों में पाई जाती है, जो विश्व की जल की कुल मात्रा का 71 प्रतिशत है। एक अनुमान के अनुसार 1300 लाख घन किलोमीटर पानी समुद्रों में, 1.8 लाख घन कि.मी. झीलों में, 0.13 लाख घन कि.मी. वायुमंडल में, 0.02 लाख घन कि.मी. नदियों में तथा 0.01 लाख घन कि.मी. पानी समस्त जीव–जन्तुओं के शरीरों में उपस्थित है। (स्त्रोत बुडाइको 1980)

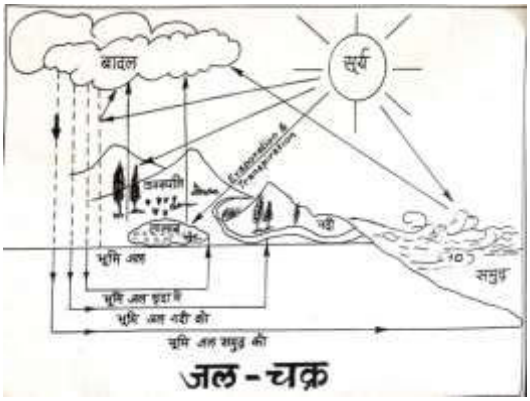

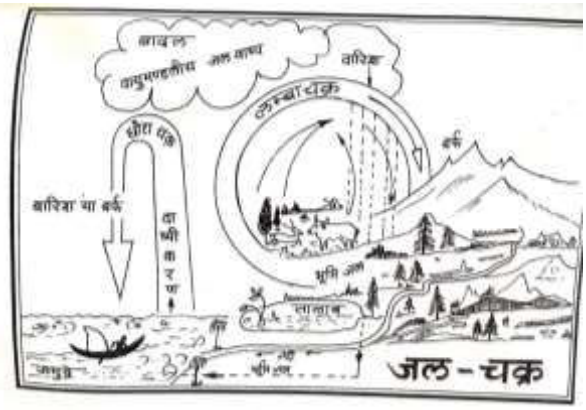

3.10 पारिस्थितिकी निकेत (ECOLOGICAL-NICHE)

पारिस्थितिकी विज्ञान में निकेत या निच शब्द का अर्थ है – ''एक पारिस्थितिकी–तंत्र में किसी प्राणी द्वारा प्रस्तुत भूमिका।'' अर्थात् उस प्राणी का उसके पारिस्थितिकी–तंत्र में व्यवसाय।

इस स्थिति को समझने के लिए ऑस्ट्रेलिया के किसी घास के मैदानी पारिस्थितिकी–तंत्र, जिसमें कंगारू रहता है, और भारत के समान–धर्मी घास के मैदानी पारिस्थितिकी–तंत्र जिसमें गौर (बायसन) रहता है, की तुलना कीजिए। ऑस्ट्रेलिया के उस पारिस्थितिकी–तंत्र में जो स्थान कंगारू का है, वही स्थान भारत में वैसे ही पारिस्थितिकी–तंत्र में गौर का है, परन्तु गौर और कंगारू अलग–अलग वर्गिकीय समूह के होते हुए भी एक ही पारिस्थितिकीय–निकेत (निच) में अधिवासित हैं। जो भूमिका कंगारू की ऑस्ट्रेलिया के अपने घास के मैदान में है, वही भूमिका भारत में ऐसे घास के मैदानों में गौर की भी है, अर्थात् विकास की प्रक्रिया में निकेत–विशेष को ग्राह्य प्रजातियों का ही जन्म होता है। यदि ये समान–धर्मी निकेत विश्व में बहुत दूर–दूर भी स्थित हैं, तो भी उनमें समान वर्गीकीय समूह के (Texonomically-Related) प्राणी विकसित होते हैं।

पारिस्थितिकी–निकेत की यह संकल्पना विभिन्न जीवोमों (BIOMES) में समान गुण–धर्मों की तुलनात्मक विवेचना करने में सहायक होती है, जहां समान आवास में समान भूमिका वाली प्रजातियाँ उपस्थित रहती हैं।

निकेत का निच का शब्दकोषीय अर्थ है ''आला'' अर्थात किसी कमरे की दीवारों में बनाये गये छोटे–छोटे विभिन्न आकार–प्रकार के सामान रखने के उपयोग के स्थान। इसी संरचना के समानांतर कल्पना कीजिए कि एक निम्न आच्छादी आवास (Low level Cover habitat) में एक चिड़िया

आवास के छत्र पर उपलब्ध वनस्पति से अपना भोजन प्राप्त करती है, एवं घोंसला आदि बनाकर रहती है। उसी आवास में खरगोश और चूहे आदि भी जमीन में बिलों में रहकर छोटी–छोटी घास कुतरकर खाते हैं, चीतल भी उसी क्षेत्र में घास और झाड़ियों को कुतर कर खाते हैं, और वहीं उपलब्ध आच्छादन में सुरक्षा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार तीनों प्रकार के प्राणियों के रहने का एक ही स्थान अर्थात् एक ही वास–स्थल (HABITAT) होते हुए भी तीनों की निकेत (निच) अलग–अलग हैं। यद्यपि एक प्राणी की निकेत और दूसरे प्राणी की निकेत के बीच बहुत स्पष्ट सीमा–रेखा नहीं होती, अर्थात् एक प्राणी के निकेत का कुछ भाग दूसरी किसी प्राणी–जाति द्वारा भी कुछ सीमा तक उपयोग किया जा सकता है। यदि दोनों प्राणि–जातियों का निकेत पूर्ण रूप से एक ही होगा, तो दोनों में भारी स्पर्धा होगी और दोनों में से जो सफल होगा वही उस आवास का उपयोग कर सकेगा, दूसरा स्थानांतरित हो जायेगा। इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि प्रजाति और उसके निकेत का विकास साथ–साथ होता है। एक गौर प्रजाति उसके द्वारा अधिवासित क्षेत्र को इस प्रकार निर्मित करती है, ताकि वह उसके लिए अनुकूलतम बना रहे, और फलस्वरूप गौर–निकेत का निर्माण होता है। परन्तु यहां अन्य अनेक जीवों की अंतक्रियाओं को भी एकदम नहीं भूल जाना चाहिए जो उस तंत्र में विद्यमान हैं।

3.11 पारिस्थितिकी–तंत्र का विकास

(क) प्राथमिक जीवीय अनुक्रम (PRIMARY BIOTIC SUCCESSION) :–

किसी एक पारिस्थितिकी–तंत्र के विकास में हजारों वर्षों का समय लग सकता है। विकास की इस प्रक्रिया के दो रूप हो सकते हैं। एक वह जहां इससे पहले कभी जीवन नहीं था, और अब धीरे–धीरे कार्बनिक विकास के साथ–साथ जीव–जगत का विकास हो रहा है या हो चुका है। इस प्रकार के विकास को ''प्राथमिक–जीवीय–अनुक्रम'' कहते हैं। पृथ्वी के विकास (Evolution) के साथ–साथ प्राथमिक–जीवीय–अनुक्रम भी अनवरत चलता रहा और परिणामस्वरूप आज पृथ्वी के अधिकतर भू–भाग पर किसी न किसी स्वरूप में जीव–जगत का विकसित पारिस्थितिकी–तंत्र विद्यमान है। परन्तु ग्लेशियरों द्वारा छोड़ी गई भूमि और ज्वालामुखियों द्वारा उगले गये लाबे से प्राप्त नये जीव–विहीन क्षेत्र ऐसे उदाहरण हैं जहां अभी भी प्राथमिक जीवीय अनुक्रम देखा जा सकता है। विकास के क्रम में यहां मृदा का निर्माण होता है, मौसम, सूर्य का ताप और प्रकाश तथा जल यहां के भौतिक–पर्यावरण को धीरे–धीरे बदलते हैं। जैसे ही अनुकूल स्थिति निर्मित होती है, कुछ बहुत कम आवश्यकता वाले जीव (पौधे और जन्तु) जन्म लेते हैं, जिनका स्थान धीरे–धीरे घास, और वृक्ष ले लेते हैं। मृदा अब तक कुछ परिपक्व हो जाती है और जलवायु तथा वनस्पति से संतुलन कर लेती है, तब उसमें परिवर्तन भी बहुत धीमा हो जाता है। जंतु और वनस्पति एक ऐसे जटिल स्तर पर पहुंच जाती है, जो उस मृदा और जलवायु के अत्यंत अनुकूल होती है। जीव–जगत भी उपलब्ध वनस्पति के अनुसार स्वयं को अनुकूलित कर लेते हैं।

जीवीय–अनुक्रम का यह अंतिम उत्पाद चरम–पारिस्थितिकी (Climax Ecosystem) कहलाता है। अर्थात् अब आगे होने वाले परिवर्तन नहीं होने के बराबर ही होते हैं।

(ख) द्वितीयक जीवीय अनुक्रम (SECONDARY BIOTIC SUCCESSION)

:– यदि किसी चरम–पारिस्थितिकी का विनाश किसी प्राकृतिक आपदा जैसे अग्नि, तूफान आदि के कारण हो जाय, तो उसके बाद पारिस्थितिकी के विकास की प्रक्रिया को ''द्वितीयक–जीवीय–अनुक्रम'' कहते हैं। द्वितीयक अनुक्रम में होने वाले पारिस्थितिकी–विकास में प्राथमिक अनुक्रम की तुलना में बहुत समय लगता है, क्योंकि मृदा और वनस्पति के स्त्रोत तथा अनुकूल जलवायु पहले से ही विद्यमान रहते हैं, और शीघ्र ही सम्पूर्ण क्षेत्र पुनः चरम–पारिस्थितिकी तक विकसित हो जाता है। किसी जले हुए वन–क्षेत्र में अगले ही वर्ष घास, झाड़ियाँ और ऐसे पेड़–पौधे जिनके बीज आग में बच गये थे या जिनके बीज आस–पास के क्षेत्र से प्राकृतिक रूप में आ सकते हैं, उग आते हैं। पहले वर्ष घास की बहुतायत रहती है और धीरे–धीरे झाड़ियाँ घास को दबा लेती हैं, और कई एक वर्षों बाद हम देखते हैं कि झाड़ियों को भी ऐसे वृक्ष प्रजातियों ने पीछे छोड़ दिया है, जो उस क्षेत्र में पहले से ही चरम–पारिस्थितिकी के समय उपलब्ध थीं। इस प्रकार धीरे–धीरे कुछ ही वर्षों में पूरा क्षेत्र पुनः चरम–पारिस्थितिकी प्राप्त कर लेता है। यहां चरम–पारिस्थितिकी से तात्पर्य, वनस्पति और जीव–प्रजाति दोनों से है, क्योंकि वनस्पति के विकास के साथ–साथ जन्तुओं के विकास का क्रम भी जुड़ा रहता है। द्वितीयक–जीवीय–अनुक्रम की संकल्पना वन्य प्राणि–प्रबंध में बहुत सहायक हुई है। जीवीय–अनुक्रम में चरम–पारिस्थितिकी से पूर्व की कोई अवस्था यदि किसी वांछित जीव–प्रजाति के लिए अधिक अनुकूलतम पाई जाती है, और जैसे–जैसे चरम–पारिस्थितिकी की अवस्था आती है, वह प्रजाति समाप्त होती जाती है, तो वैसी स्थिति में यदि हम कृत्रिम व्यवस्था करके अनुक्रम की दिशा उलटते रहें बार–बार वही स्थिति बनती रह सकती है, जो वांछित प्रजाति के लिए अनुकूलतम है। जैसे अग्नि दुर्घटना से चरम–पारिस्थितिकी की स्थिति उलट जाती है और द्वितीयक–जीवीय–अनुक्रम प्रारंभ हो जाता है। इस अनुक्रम में नई और अधिक मात्रा में घास आती है और प्रत्येक वर्ष या आवश्यकतानुसार एक निश्चित अंतराल पर यदि इस क्षेत्र में प्रबंध तकनीक की दृष्टि से नियंत्रित आग लगाई जाय, तो यही ''घास–क्षेत्र'' की पारिस्थितिकी (Grass-land ecology) बनाई रखी जा सकती है, जो, निश्चित ही चरम–पारिस्थितिकी नहीं है। परिणामस्वरूप हम उन जीव–प्रजातियों को बढ़ने का अवसर उपलब्ध करा सकते हैं, जो जीवीय–अनुक्रम के बीच की इस पारिस्थितिकी–विशेष के अनुकूल होंगे। कुछ वन्य–प्राणि–समुदाय भी चरम–पारिस्थितिकी की गति रोकने में सहायक होते हैं, जैसे बोरी अभयारण्य में घास के मैदानों की घास की ऊंचाई को नियंत्रित रखने में गौर एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। अतः पहले लक्ष्य–प्रजातियों का चुनाव करके जीवीय–अनुक्रम में उनकी पारिस्थितिकी तंत्र का कौन सा पदक्रम है, निश्चित कर लेना चाहिए और उसी पदक्रम को बनाये रखने के लिए कृत्रिम उपाय करने चाहिए। तब हमें लक्ष्य–प्रजातियों के सम्बर्धन के उत्साहजनक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं। एक और

बहुत ताजा उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। श्रीलंका में वर्ष 1984 के आस–पास यह महसूस किया गया कि नदियों, जलाशयों और अन्य जलस्त्रोतों में सैल्विनिया नामक वनस्पति इतनी बुरी तरह छा गई कि इसने न केवल नदियों और जलस्त्रोतों में आवागमन के मार्ग अवरूद्ध कर दिये, बल्कि पानी में प्रकाश और आक्सीजन का प्रवेश भी बन्द कर दिया। फलस्वरूप मछलियाँ एवं अन्य जल–जीव मरने लगे और सम्पूर्ण पारिस्थितिकी–तंत्र तीव्रगति से बदलने लगा। तभी आस्ट्रेलिया में प्रयोग किये गये एक नन्हें से कीट (3 मी.मी. लम्बा), सिट्रो वागउस सैल्विनिया को इस पारिस्थितिकी–तंत्र में आयात करके वर्ष 1987 में सर्वप्रथम बाथुलुओया नदी में प्रविष्ट किया गया। फलस्वरूप इस कीट ने 10 माह की अल्पावधि में इस नदी को सैल्विनिया नामक वनस्पति (नाशक जीव) से मुक्त करा दिया है। बाद में 70 अन्य जल–स्त्रोतों में इन कीटों को छोड़ा गया, जिनमें से अब तक 40 स्त्रोत सैल्विनिया से मुक्त हो चुके हैं। परन्तु सैल्विनिया से मुक्ति के साथ ही दूसरी समस्या ने जन्म ले लिया है, वह है जल–कुम्भी का प्रकोप। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि न केवल आग या आयातित जीव (Exotic) आदि से पारिस्थितिकी–तंत्र के अनुक्रम (Sucession) को रोका या मोड़ा जा सकता है, और वांछित प्रजाति (इस उदाहरण में मछली और उसका आवास) का सम्वर्धन किया जा सकता है, बल्कि पारिस्थितिकी–तंत्र में अन्य जीवीय–परिवर्तन से भी ऐसा करना सम्भव है। परन्तु पारिस्थितिकी–तंत्र में ऐसे प्रयोग करने से पूर्व उसके अन्य सम्भावित कुप्रभावों का भी अध्ययन कर लेना चाहिए। (सैल्विनिया वनस्पति से संबंधित जानकारी का स्त्रोत सी. ई. ई. एन. एम. अप्रैल 1989)।

3.12 जीवीय–समुदाय (Biotic Community)

''किसी एक क्षेत्र में पाई जाने वाली समस्त प्रजाति–समष्टियों (Population) को मिला कर बने जीव–समूह को जीवीय–समुदाय कहते है''। यह जीवीय–समुदाय अपने इस आवास के अजीवीय–पदार्थों के साथ मिलकर एक पारिस्थितिकी–तंत्र के रूप में कार्य करते हैं। संसार में पाये जाने वाले विभिन्न समुदायों की समानता और असमानता के आधार पर विश्व को विभिन्न प्राणिजात–क्षेत्रों (Faunal Regions) में विभक्त किया जा सकता है। यह प्रयास सर्व प्रथम स्क्लेटर ने वर्ष 1858 में पक्षी–जाति के आधार पर किया था जिसे वालेस ने बाद में अन्य जंतुओं को भी आधार मान कर संशोधित किया। वालेस के वर्गीकरण के सिद्धांत को भी उडवार्डी ने 1975 में पुनः संशोधित किया।

जीव भौगोलिक परिमंडल :– संशोधित वर्गीकरण के आधार पर विश्व के समस्त प्राणिजात–क्षेत्रों को अब निम्न जीव–भौगोलिक परिमंडलों (Biogeographical Realms) के नाम से जाना जाता है पेलार्कटिक, नेआर्कटिक, अफ्रिको ट्रोपिकल, इन्डोमलायन, ओशियेनियन, आस्ट्रेलियन, एन्टार्कटिक और नीयो ट्रोपिकल। भारतीय उप–महाद्वीप का क्षेत्र इन्डो–मलायन परिमंडल में आता है, जिसमें दक्षिण पूर्व एशिया का क्षेत्र भी सम्मिलित है।

3.13 जीवोम (BIOMES)

यद्यपि किसी एक प्राणि–जात–क्षेत्र (Faunal Region) में पाई जाने वाली वनस्पति एवं जन्तु–प्रजातियाँ भिन्न–भिन्न हो सकती हैं, परन्तु इनमें पाये जाने वाले विभिन्न पारिस्थितिकी–तंत्रों में बहुत सी समानताएँ पाई जाती है, उदाहरणार्थ – ओरियंटल, अफ्रीकन, आस्ट्रेलियन और नीयो ट्रोपिकल क्षेत्र, जन्तु–जगत के आधार पर भिन्न–भिन्न परिमंडलों में आते हैं, परन्तु इनमें पाई जाने वाली वनस्पति में काफी समानता है, जैसे पेड़–पौधों की प्रजातियों में अंतर हो सकता है, परन्तु एक ही जैसी जलवायु वाले क्षेत्र में इन वनस्पतियों का आकार–प्रकार और संरचना एक जैसी होती है। इस प्रकार समान संरचना–युक्त वनस्पति–समुदाय वाले और समान जलवायु वाले विशाल क्षेत्रों को जीवोम कहते हैं। इन जीवोमों में पाये जाने वाले वन्य–प्राणि भी एक जैसे ही होते हैं। उदाहरणार्थ अफ्रीको ट्रोपिकल परिमंडल, नीयो ट्रोपिकल परिमंडल से प्राणि जात क्षेत्र (Faunal Region) की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी, पहले परिमंडल में तेन्दुआ और दूसरे परिमंडल में जगुआर की उपस्थिति यह साबित करती है कि ये दोनों प्राणी निकट सम्बन्धी न होते हुए भी आकार–प्रकार और अन्य अनेक दृष्टियों से समान हैं। इस प्रकार पृथ्वी को विभिन्न जीवोमों में विभक्त करने का मुख्य आधार जलवायु है। प्रायः प्रत्येक जीवोम में एक से अधिक पारिस्थितिकी–तंत्र विद्यमान रहते हैं।

जीवोम को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है, पहला, जलोद्भिक (Hydrophytic) दूसरा भौमिक (Terrestrial)। पुनः जलोद्भिक जीवोम को नदियों, तालाबों, और कच्छ तथा भौमिक जीवोम को टुन्ड्रा, रेगिस्तान, घास के मैदान और वन जीवोम में विभक्त किया जा सकता है।

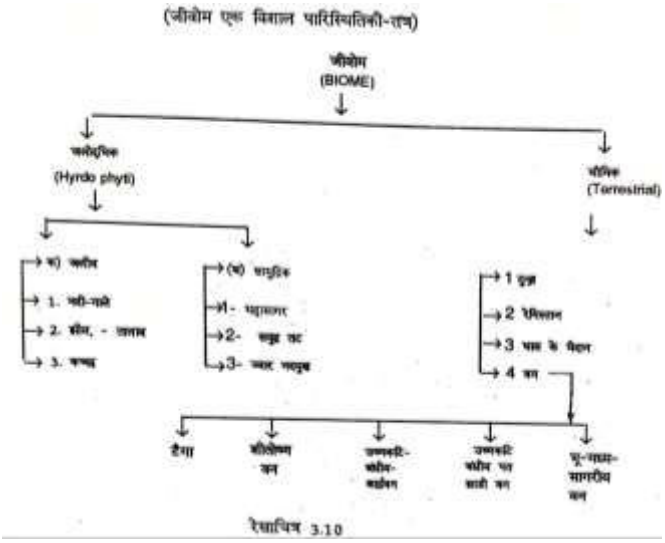

रेखाचित्र 3.10

जलोद्भिक जीवोमों में तीन प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं :–

(1) **प्लवक (PLANKTON)** :– जो जीव पानी के ऊपर निष्क्रिय रूप से पड़े हुए तैरते रहते हैं, छोटे–छोटे पौधे–प्रजाति के जीव पादप–प्लवक (Phyto-Plankton) और जन्तु–जाति वाले प्राणि–प्लवक (Zoo-Plankton) कहलाते हैं, ऐलगी, क्रस्टेशियन्स आदि प्लवक के उदाहरण हैं।

(2) **तरणक (Nekton)** :– जो प्राणी समुद्र में तैरते रहते हैं, शार्क, व्हेल, डालफिन, कछुए आदि।

(3) **नितलक (Benthos)** :– जो जीव जल–स्त्रोत की तली में रहते हैं। ब्रिटल–स्टार्स, लोबस्टर्स आदि।

भौमिक जीवोम (Terrestrial Biomes) को मुख्य रूप से जलवायु के आधार पर चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। यदि आपको अपने क्षेत्र की औसत वार्षिक वर्षा और तापमान का ज्ञान हो तो आप यह निश्चित कर सकते हैं कि आपका यह क्षेत्र किस जीवोम में आता है :–

(1) **टुन्ड्रा (TUNDRA)** :– इस क्षेत्र में ध्रुवीय और उप–ध्रुवीय क्षेत्रों को भी सम्मिलित किया गया है। 20 लाख हेक्टर वृक्ष विहीन आर्कटिक क्षेत्र तथा पर्वत–शिखरों पर वृक्ष सीमा (Tree-line) से ऊपर अल्पाइन टुन्ड्रा क्षेत्रों, जिनका वार्षिक औसत तापमान 4° से. व वर्षा 120 से.मी. तक होती है, को इस जीवोम में माना गया है।

(2) **रेगिस्तान** :– 25 से.मी. से कम औसत वार्षिक वर्षा और 7° से 27° से. तापमान वाले क्षेत्र, जिनमें केवल मौसमी झाड़ियाँ और कुछ कैक्टस जैसी शुष्क जलवायु वाली वनस्पति पाई जाती हैं, रेगिस्तान जीवोम कहलाते हैं। इन क्षेत्रों में वन्य–प्राणि भी अधिकतर सरी–सृप अथवा कुछ रोडेंट्स (कृंतक) और कीड़े–मकोड़े पाये जाते हैं, जो शुष्क जलवायु के अनुकूल स्वयं को ढाल लेते हैं। सहारा, गोबी, थार आदि प्रमुख रेगिस्तान हैं।

(3) **घास के मैदान** :– प्राकृतिक घास के मैदान ऐसे जीवोम हैं, जहां वनों से कम परन्तु रेगिस्तान से अधिक वर्षा होती है, अर्थात् 25 से 100 से.मी. तक की वर्षा और 7° से 32° से. तापमान वाले क्षेत्र घास के मैदानों में सम्मिलित किये जाते हैं। घास के मैदानों में उष्ण कटि–बंधीय क्षेत्रों में 150 से.मी. तक की वर्षा वाले क्षेत्र भी हो सकते हैं, परन्तु क्योंकि इन क्षेत्रों की मृदा की रचना के कारण वर्षा के होते हुए भी इन क्षेत्रों में वन जीवोम न बनकर घार के मैदान ही रह जाते हैं।

(4) **वन–जीवोम** :– वन जीवोम 1° से. से 32° से. वार्षिक औसत तापमान और 50 से.मी. से 450 से.मी. वार्षिक औसत वर्षा तक के विशाल विभिन्नता वाले क्षेत्रों में पाये जाते हैं। इन क्षेत्रों को निम्न उप–जीवोमों में विभक्त किया जा सकता है।

(1) टैगा–या उत्तरी शंकु वृक्ष वन (Taiga or Northern Coniferous forests)

(2) शीतोष्ण– चौड़ी पत्ती वाले पतझड़ी वृक्ष (Temperate Broad leaved Deciduous Forests)

(3) उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र वन (Tropical humid Forests)

(4) उष्ण–कटिबंधीय पतझड़ी–वन (Tropical deciduous Forests)

(5) भूमध्य सागरीय वन एवं कुंज (Mediterranean forests & Scrubs)

3.14 जीवीय प्रदेश (BIOTIC - PROVINCE)

जीवों के आधार पर क्षेत्रों का वर्गीकरण करने के प्रयास में पहले जन्तुओं को आधार मान कर किया गया क्षेत्रीय वर्गीकरण प्राणी–जात क्षेत्र कहलाये और वनस्पति को आधार मान कर जीवोम बनाये गये। परन्तु वनस्पति और जन्तुओं दोनों को आधार मान कर ऐसे क्षेत्रों की पहचान की गई, जिसमें वनस्पति और जन्तु दोनों को आधार मान कर समानता पाई गई। इन समान क्षेत्रों को जीवीय प्रदेश (Biotic Province) नाम दिया गया। इस प्रकार एक बायोम, नेआर्कटिक के एक हिस्से, उत्तरी अमेरिका में ही कुल 22 जीवीय प्रदेशों की पहचान की गई है।

3.15 संक्रमिका (Ecotone)

हम जानते हैं, कि किसी पारिस्थितिकी–तंत्र में पाये जाने वाले जीवों का उस तंत्र से उपस्थित अजीवीय पदार्थों से सीधा सम्बन्ध रहता है। तापमान, वर्षा, आर्द्रता आदि भूमि–प्रदेश की बनावट और स्थिति पर भी निर्भर रहती है। पर्वत–शिखरों से घाटी तक प्रायः इन भौतिक स्थितियों में धीरे–धीरे और क्रमशः अंतर आता जाता है। और इसी अनुपात में उस क्षेत्र में पाये जाने वाले जीवीय–समुदाय में भी अंतर आता है, परन्तु कभी–कभी किन्ही भौतिक कारणों से दो समीपवर्ती स्थानों का वातावरण और जीव–समुदाय अचानक एक दूसरे से भिन्न पाये जाते हैं। इस अचानक परिवर्तन वाले क्षेत्र को हम इकोटोन या संक्रमण–क्षेत्र या संक्रमिका के नाम से जानते हैं। यह संक्रमण–क्षेत्र दो विभिन्न प्रकार के वनस्पति–प्ररूप क्षेत्र (Vegetation type areas) का मिलन–बिन्दु होता है, और वनस्पति–प्ररूप के ऐसे अचानक परिवर्तन से उत्पन्न प्रभाव को कोर–प्रभाव (EDGE EFFECT) कहते हैं। कोर–प्रभाव अनेक प्रकार के प्राणियों के लिए एक आवश्यक स्थिति होती है, क्योंकि अधिकतर प्राणी अलग–अलग आवश्यकताओं के लिए ऐसा आवास चुनते हैं, जिसमें अधिक से अधिक प्रकार के वनस्पति–प्ररूप (Vegetation types) पाई जाती हैं, अर्थात् अधिक से अधिक कोर–प्रभाव वाले आवास अधिकतम उपयोगी होते हैं। परन्तु कुछ ऐसे प्राणी भी हैं जो केवल एक जैसे वनस्पति प्ररूप में भी सुखी रह सकते हैं, जैसे कि गौर (Indian-Bison) को केवल घास के मैदान ही मिल जायें तो भी वह प्रसन्न रहता है। कोर–प्रभाव के विषय में अध्याय 8 में विस्तार से विवेचना की गई है।

3.16 जीव–मात्रा (BIOMASS)

किसी पारिस्थितिकी–तंत्र में किसी एक समय पर उपस्थित समस्त जीवों के भार को उस तंत्र की जीव–मात्रा (Biomass) कहा जाता है। किसी एक समय पर उस क्षेत्र के प्राणी–घनत्व को प्राणियों के औसत भार से गुणा करने पर हमें उस क्षेत्र की जीव–मात्रा प्राप्त होती है। वानिकी में हम जिस अर्थ में ''स्थित–शस्य'' (खड़ी फसल) (Standing Crop) को जानते हैं, उसी अर्थ में यहां वन्यप्राणि के लिए ''जीव–मात्रा'' प्रयुक्त किया गया है। जीव–मात्रा और उत्पादकता का अंतर स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। जिस दर पर कोई समष्टि नयी जीव–मात्रा का उत्पादन करती है, उसे उत्पादकता कहा जाता है।

3.17 वास–स्थल (HABITAT)

एक ऐसा स्थान और ऐसे उस स्थान का पर्यावरण, जो उसमें रहने वाली किसी प्रजाति के लिए अधिकतम अनुकूल हो, उस प्रजाति का आवास अथवा वास–स्थान (Habitat) कहलाता है। अर्थात् किसी प्रजाति के ''पते'' (Address) को आप उसका आवास कह सकते हैं। आवास और निकेत (Niche) में मुख्य अंतर यह है कि आवास को यदि पता कहा जा सकता है तो ''निकेत'' उस प्रजाति का व्यवसाय (Profession) कहलायेगा और क्योंकि वन्य प्राणियों का ''व्यवसाय'' भी उनके पते पर ही होता है अतः आवास और निकेत में भ्रम हो जाना स्वाभाविक सा है। एक ही घास का मैदान अनेक प्राणियों का आवास हो सकता है, परन्तु इसमें रहने वाले खरगोशों व चीतलों के निकेत अलग–अलग होंगे, अर्थात् खरगोशों की जीवनचर्या से संबंधित उनका समस्त व्यवसाय उसी एक घास के मैदान में चीतलों की जीवनचर्या से संबंधित उनके व्यवसाय से भिन्न होने के कारण दोनों के निकेत अलग–अलग होंगे। खरगोशों की आवश्यकता वाले बिल या भोजन चीतलों द्वारा उपयोग नहीं किये जाते। परन्तु यदि खरगोशों की संख्या इतनी बढ़ जाय कि अब और अधिक खरगोश इस घास के मैदान में अपनी दिनचर्या पूरी नहीं कर सकते, तो यह समझना चाहिए कि यह घास–मैदान अत्यधिक खरगोश धारण करने की क्षमता (Carrying Capacity) के स्तर पर पहुंच गया है।

किसी प्रजाति के आवास और उसके भौगोलिक प्रक्षेत्र (geographic range) में भी कभी–कभी भ्रम होता है। किसी प्रजाति के आवास की तुलना में उसका भौगोलिक प्रक्षेत्र काफी बड़ा हो सकता है। क्योंकि भौगोलिक प्रक्षेत्र ऐसी जलवायु वाले वे क्षेत्र हैं, जिनमें वह प्रजाति रह सकती है या स्वयं को उस जलवायु के अनुकूल बना सकती है। इस प्रकार यह आवश्यक नहीं है कि किसी प्रजाति के लिए उपयुक्त उसका सम्पूर्ण भौगोलिक–प्रक्षेत्र उसका आवास बन सकें। ऐसे सम्पूर्ण भौगोलिक प्रक्षेत्र में इस प्रजाति के न फैल पाने के अनेक भौतिक कारण हो सकते हैं, जैसे अनेक वन ग्रामों का क्षेत्र जो अभी चीतलों द्वारा आवास के रूप में प्रयोग नहीं किया जा रहा है, यदि खाली कर दिया जाय और

मानव हस्तक्षेप हटा लिया जाय, तो बहुत शीघ्र आस–पास के चीतलों द्वारा आवासित हो जायेगा। इस प्रकार यह वन ग्राम का क्षेत्र वहां के चीतलों के भौगोलिक प्रक्षेत्र में तो आता है, परन्तु वर्तमान में उनका आवास नहीं है।

आवासों के विभिन्न प्रकार, उनकी विशेषताएँ एवं वर्णन अध्याय 8 में विस्तार से किया गया है। यहां केवल इतना जान लेना आवश्यक है, कि किसी भी प्रजाति के आवास में उस प्रजाति के लिए पूरे वर्ष भर बदलते मौसम के साथ–साथ विभिन्न प्रकार के पर्याप्त मात्रा में भोजन, मौसम, धूप, वर्षा व शीत आदि से सुरक्षा के लिए छत्र, शत्रु–प्रजाति से बचने के लिए सुलभ आवरण, आराम करने और जननक्रिया के लिए उपयुक्त स्थान और पीने के लिए पर्याप्त मात्रा में पानी उपलब्ध कराने की क्षमता होना आवश्यक है। इसके विपरीत ऐसा भी कहा जा सकता है, कि जिस आवास में जैसा भोजन, छत्र, आवरण और पानी की मात्रा उपलब्ध होती है, वहां उसी के अनुकूल वन्य–प्राणि रह सकते हैं।

जब कभी ऐसी किसी आवश्यकता की पूर्ति में किसी कारण कोई कमी आती है, तो आवास–प्रबंध कार्यों के द्वारा वांछित व्यवस्था कराना वन्य–प्राणि–प्रबंध का मुख्य कार्य होता है, अन्यथा उस प्रजाति के लिए यह आवास अनुपयुक्त हो जाता है, और यह प्रजाति अन्य अनुकूलतम–आवास में अभिगमन (Migration) कर जाती है। किसी आवास को प्रभावित करने वाले मुख्य कारण, बाढ़, सूखा भूक्षरण, चराई, अत्यधिक बार पतझड़, खाद्यता (Paiatibility) अत्यधिक दोहन, शाखाकर्तन, अग्नि, जीवीय–अनुक्रम और प्रदूषण होते हैं।

3.18 आवास–परिक्षेत्र (Home Range)

किसी प्रजाति के वास–स्थल में यदि उसके किसी एक व्यष्टि (Individual) की गतिविधियों पर ध्यान दिया जाय, तो हमें ज्ञात होता है, कि प्रत्येक प्राणी का भ्रमण क्षेत्र सीमित रहता है। अधिकतर व्यष्टि अपनी गतिविधियों जीवन–भर एक क्षेत्र–विशेष में ही सीमित रखते हैं। इसी क्षेत्र में वह अपने भोजन, पानी, सुरक्षा आवरण और आराम करने के स्थान बना लेता है। इसी क्षेत्र के किसी हिस्से में वह अपने बच्चों को जन्म देकर पोषण करता है। यही क्षेत्र उस व्यष्टि का आवास परिक्षेत्र (Home Range) कहलाता है। एक ही प्रजाति के एक से अधिक व्यष्टियों का आवास परिक्षेत्र पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से अति–व्यापी (Over Lapping) हो सकता है। यह जंगली चूहों में बहुत साधारण घटना है। हिरण प्रजाति में अनेक हिरण–समूह में रह कर एक ही आवास–परिक्षेत्र का उपयोग करते हैं, और कई बार समीप के आवास–परिक्षेत्र में भी इस समूह में से कोई एक, अच्छा भोजन उपलब्ध होने पर भी, अभिगमन नहीं करता। इस तथ्य से इनका अपने आवास–परिक्षेत्र के प्रति अनुराग का व्यवहार प्रदर्शित होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रत्येक व्यष्टि–प्राणी अपने आवास–परिक्षेत्र की भौगोलिक–स्थिति से परिचित रहता है। उस क्षेत्र में कब, किस मौसम में, किस स्थान पर उसकी

आवश्यकता, इच्छा स्वादादि का भोजन, पीने का पानी और सुरक्षा के साधन कैसे–कैसे उपलब्ध हैं, इसकी उसे सम्यक् जानकारी रहती है। शत्रु के बचाव के समय क्षेत्र में उसे किस विधि का उपयोग करना है, इसका उसे ज्ञान रहता है। सबसे मुख्य बात यह भी है कि इस क्षेत्र में उसे मनोवैज्ञानिक रूप से सुरक्षा की भावना प्राप्त रहती है। इसलिए ये अपने आवास परिक्षेत्र से बाहर जाना पसन्द नहीं करते।

एक आवास–परिक्षेत्र में प्रायः अनेक परिसर (Territory) हो सकते हैं, और कभी–कभी किसी प्राणी का आवास परिक्षेत्र इतना छोटा या परिसर इतना बड़ा हो सकता है, कि आवास–परिक्षेत्र और परिसर की सीमाएँ प्रायः एक सी हो सकती हैं।

किसी प्राणी विशेष का परिसर हमेशा उसके आवास–परिक्षेत्र (Home Range) के भीतर ही होता है, और इस प्राणी द्वारा अपने परिसर की सीमाओं की अपनी ही प्रजाति के दूसरे किसी प्राणी के घुस जाने के विरूद्ध सुरक्षा की जाती है। नर–मादा के युगल–बंदी के समय यह नियम शिथिल हो जाता है।

बोरी अभयारण्य में गौर प्रजाति के आवास–परिक्षेत्रों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि यद्यपि गौर दिन भर में बिना थकान के 8–10 किलोमीटर का फासला तय करते हैं परन्तु उनके मौसमी–अभिगमन (Seasonal Migration) को छोड़ कर एक गौर वर्ष भर में एक–दो वर्ग कि.मी. से अधिक के क्षेत्र में भ्रमण नहीं करता, जिसे वह अपने आवास–परिक्षेत्र के रूप में चुनता है।

केवल शीतकाल में मैदानी क्षेत्रों से पर्वत–शिखरों पर अभिगमन, और ग्रीष्मकाल शुरू होते ही पर्वत–शिखरों से मैदानी–क्षेत्रों में उतर आने के अतिरिक्त, वे अपनी समस्त गतिविधियाँ अधिक से अधिक 2 वर्ग कि.मी. क्षेत्र में ही सीमित रखते हैं। बोरी में ही गौर के एक समूह को उसके आवास–परिक्षेत्र से विस्थापित करने के प्रयास विफल ही रहे। थाई–बोरी वनमार्ग पर प्रायः मिलने वाले एक अकेले नर गौर को इस मुख्य मार्ग से सोनभद्रा नदी के दक्षिण में भगाने के प्रयास किये गये, परन्तु वह भी अंततः उसी क्षेत्र में बना रहा।

3.19 आवास–परिसर (TERRITORY)

अनेक प्राणी प्रजातियों में न्यूनाधिक सीमा तक अपनी ही प्रजाति के अन्य प्राणियों से आपसी स्पर्धा की भावना के कारण, अलग–अलग रहने का व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। स्पर्धा–जनित इस परस्पर विरोध की स्थिति को कम करने के लिए, ये प्राणी–व्यष्टि (Individuals) या प्राणी–समूह, अपनी ही प्रजाति के दूसरे समूह को, स्वयं के लिए अधिग्रहीत क्षेत्र–विशेष से निष्काषित कर देते हैं, और इस प्राणी या प्राणी–समूह द्वारा उपरोक्तानुसार अधिग्रहित क्षेत्र को उस प्राणी या प्राणी–समूह का ''आवास–परिसर'' (Territory) कहते हैं। इस परिसर में इस प्राणी के जीवनोपयोगी समस्त आवश्यक

पदार्थों का समावेश रहता है। अधिग्रहण करने के इस व्यवहार को उस प्राणी का प्रादेशिकवाद या/परिसरवाद (Territorialism) कहा जाता है। प्रत्येक प्राणी अपने–अपने परिसर में उसी प्रजाति के अन्य प्राणी को घुस आने से रोककर अपने परिसर की सुरक्षा करता है। दूसरा प्राणी भी प्रायः किसी अन्य प्राणी द्वारा घोषित परिसर (Territory) का सम्मान करता है, अन्यथा दोनों व्यष्टियों में लड़ाई होती है, और घुसपैठिये को भगा दिया जाता है। यद्यपि स्पर्धा अथवा परस्पर विरोध की भावना प्रत्येक प्रजाति में समान रूप से नहीं पाई जाती, किसी–किसी प्रजाति के व्यष्टि एक दूसरे के प्रति बहुत कम विरोध और किसी–किसी प्रजाति के व्यष्टियों में अत्यधिक विरोध–भावना पाई जाती है। कई अवसरों पर यह स्पर्धा और विरोध अधिक मुखर हो जाता है, जैसे संगम काल (Mating Season) या युगल–बन्धन।

अलग–अलग परिसरता का एक पारिस्थितिक लाभ यह है, कि एक ही स्थान पर अत्यधिक भीड़ न होने से उस क्षेत्र के पारिस्थितिक–विकास पर दुष्प्रभाव नहीं पड़ता। पक्षियों में भी यह पारिसरिक (Territorial Behaviour) व्यवहार बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। अनेक बार किसी पक्षी या पक्षी–समूह विशेष को अत्यधिक शोर–शराबा करते हुए और अपनी ही प्रजाति के अन्य पक्षी–समूह से झगड़ते हुए देखा जा सकता है। जंगल वेबलर्स (सात बहनें) नामक पक्षी का उदाहरण इस संदर्भ में दिया जा सकता है। अनेक जंगल फाउल (वनमुर्ग) एक समूह में बिना किसी झगड़े के एक ही क्षेत्र में साथ–साथ दाना चुनते रहते हैं, परन्तु संगम–काल और घोंसला बनाने के समय ये सब अलग–अलग अपनी–अपनी पारिसरिक सीमा (Territorial Boundry) के लिए सचेत रहते हैं। इस प्रकार परिसर की सीमा कुछ सेंटीमीटरों से लेकर वर्ग कि.मी. तक छोटी–बड़ी हो सकती है। परिसर की सीमाएँ जितनी छोटी होंगी उतनी ही अधिक उस आवास की धारण–क्षमता बढ़ जायेगी। इसलिए एक वन्य–प्राणि प्रबन्धक का सदैव ऐसा प्रयास रहता है, कि प्रत्येक छोटी से छोटी क्षेत्रीय इकाई में किसी प्राणी–विशेष की आवश्यकता सम्बन्धी सभी सामग्री उपलब्ध हो जायें, ताकि उसका आवास–परिसर छोटा ही रहे और अन्य प्राणी–व्यष्टि को भी आवास–परिसर बनाने के लिए पर्याप्त स्थान उपलब्ध रहे।

3.20 अभिगमन (प्रवास) (MIGRATION)

जब कोई वन्य–प्राणी समष्टि अपने अनुकूलतम आवास से मौसम के परिवर्तन के कारण अन्य अनुकूल आवास में पुनः अपने मूल–अनुकूलतम–आवास में लौटने के लिए अभिगमन करती है तो इस प्रक्रिया को उस प्राणी का ''अभिगमन'' कहा जाता है। उदाहरण के लिए साइबेरियन–क्रेन्स प्रति वर्ष हजारों मील की दूरी से सर्दियों में भरतपुर अभयारण्य में बच्चे जन्मने और सर्दियाँ बिताने के लिए आते हैं, और पुनः वापस अपने मूल आवास (Habitat) में लौट जाते हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि अभिगमन के लिए हमेशा प्रतिवर्ष एक निश्चित मार्ग और निश्चित स्थानों का ही प्रयोग किया जाता है। हजारों किलोमीटर के लम्बे रास्ते को बिना भटके तय करने, और निश्चित मार्ग से निश्चित स्थान पर पहुँचने

के लिए, ये प्रवासी भौगोलिक–स्थलों सितारों और सूर्यादि की स्थिति से दिशा–संकेत प्राप्त करते हैं। अनेक स्तनपायी–प्राणियों में भी कुछ सौ मीटर से लेकर सैकड़ों किलोमीटर तक अभिगमन पाया जाता है। बोरी अभयारण्य में इंडियन–बाइसन सर्दियों में मैदानी क्षेत्र से पर्वत–शिखरों पर चले जाते हैं, जो कठिनाई से 200 मीटर से 1000 मीटर की दूरी हो सकती है, जबकि अमेरिकन बाइसन कई सौ कि.मी. तक अभिगमन करते हैं। मछलियाँ भी समुद्र से निकलकर वापस अपनी मूल–नदी के आवास में सैकड़ों कि.मी. की यात्रा करके वापस आ जाती हैं।

3.21 परिक्षेपण (DISPERSAL)

किसी प्राणि–समष्टि (Population) के परिक्षेपण (Dispersal) और अभिगमन (Migration) का अन्तर स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। परिक्षेपण में समष्टि का जो भाग उस क्षेत्र को छोड़ कर अन्य आवास में जाता है, वह वापस आने के लिए नहीं जाता, बल्कि उस क्षेत्र की धारण–क्षमता से अधिक संख्या हो जाने के कारण या स्पर्धा अधिक हो जाने के कारण परिक्षेपित (Dispersed) हो जाता है, जबकि अभिगमन का मुख्य कारण, मौसम के बदलने के साथ उस आवास में भोजन और पानी तथा आच्छादन आदि की कमी हो जाने से, या मौसम असह्य अथवा प्रतिकूल हो जाने से, बदली हुई परिस्थितियाँ होती हैं। पुनः मौसम बदलने पर जब परिस्थितियाँ अनुकूल हो जाती हैं, तब ये समष्टि भी अपने मूल–आवास में लौट आती हैं। इस प्रकार के अभिगमन से ऐसे दोनों मौसमी–आवासों का हितकारी उपयोग होता रहता है। परिक्षेपण समष्टि से बाहर की ओर होता है तथा परिक्षेपण दो प्रकार का हो सकता है। (1) उत्प्रवास (Emigration) और (2) आप्रवास (Immigration)।

उत्प्रवास (EMIGRATION)

उत्प्रवास वह स्थिति कहलाती है जब कोई प्राणि–समष्टि उसके द्वारा पूर्व में अधिवासित क्षेत्र के बाहर प्रवास कर जाती है, और पूर्व आवास को छोड़ देती है। इसके स्पष्ट कारण अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं। क्योंकि कई बार अनुकूलतम अवस्थाओं का परित्याग करके भी प्राणि–समष्टि उत्प्रवास कर जाती हैं।

आप्रवास (IMMIGRATION)

आप्रवास वह स्थिति है, जब कोई प्राणि–व्यष्टि किसी एकदम नये आवास में आ जाता है। प्रायः यह स्थिति तब आती है, जब जवान हो रहे बच्चों और अनेक अग्रजों में स्पर्धा के कारण लड़ाई होती है, और ये अभी जवान हो रहे बच्चे, आवास–परिक्षेत्र से बाहर खदेड़ दिये जाते हैं। इस प्रक्रिया में अनेक बच्चे अनेक कारणों से रास्ते में या अनुकूल आवास की खोज के क्रम में मर भी जाते हैं। परन्तु आप्रवास के कारण एक प्रजाति का अनेकानेक क्षेत्रों में फैल जाना उस प्रजाति के हित में ही रहता है,

क्योंकि यदि कभी विपरीत परिस्थितियों में किसी एक आवास–परिक्षेत्र की समष्टि नष्ट भी हो जाय, तो उस प्रजाति के प्रतिनिधित्व एवं पुनः सम्बर्धन के लिए अन्य आवास–परिक्षेत्रों में उस प्रजाति के प्राणी मौजूद रहते हैं। कान्हा राष्ट्रीय उद्यान में बिशनपुरा–सोन्डर और गुरेला गाँवों के खाली कराये जाने के बाद उपलब्ध हुए मैदानी क्षेत्र में (वर्ष 1976–77) अनेक बारह सिंघे आप्रवासी होकर आ गये थे। जिस क्षेत्र से ये प्राणी यहां आये उस क्षेत्र से पलायन करना उनका उत्प्रवास कहलायेगा।

अध्याय–4

समष्टि गुण धर्म

(ATTRIBUTES OF POPULATION)

4.1 समष्टि (Population)

''किसी एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाली किसी एक प्रजाति के प्राणियों की संख्या को उस प्रजाति की समष्टि कहा जाता है।'' यह संख्या तथा इसका संयोजन अनेक कारणों से जल्दी–जल्दी बदलता रहता है। वन्य प्राणि समष्टि की गणना के लिए क्षेत्र की सीमाओं का निश्चित निर्धारण भी दुःसाध्य कार्य होता है। एक ही प्रजाति के प्राणी जब विभिन्न–विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों/आवासों में रहते हैं तो प्रत्येक भौगोलिक क्षेत्र का समष्टि अलग–अलग समष्टि कहलाती है। अतः बिना किसी भौगोलिक संदर्भ के समष्टि का कोई अर्थ नहीं है।

4.2 धारण–क्षमता की संकल्पना (CONCEPT OF CARRYING CAPACITY)

समष्टि और समष्टिगतिकी (Population Dynamics) के तत्वों को समझने के लिए किसी एक आवास की एक बाक्स के रूप में कल्पना कीजिए। इस बाक्स के अंदर जितना स्थान, भोजन, पानी और आच्छादन आदि उपलब्ध हैं, वह एक समष्टि की एक सीमित संख्या के लिए ही पर्याप्त हो सकता है। अब मान लें कि एक समष्टि इस बाक्स के अन्दर रहती है। पुनरोत्पादन से समष्टि–संख्या में वृद्धि होगी, और बाक्स के अंदर धीरे–धीरे भीड़ होने लगेगी। इस भीड़ को कम करने के लिए बाक्स के अंदर की समष्टि में कुछ व्यष्टि (Individuals) मरेंगें या बाहर निकल जायेंगे। अब मान लें कि जुलाई–अगस्त में वृद्धि–सत्र (Growing-Season) के कारण इस बाक्स का परिमाप अर्थात् धारण–क्षमता (Carrying Capacity) भी बढ़ जाती है, और नये बच्चों के जन्म के कारण समष्टि में वृद्धि हो जाती है। पुनः अत्यधिक गर्मी के कारण बाक्स का क्षेत्र (धारण–क्षमता) सिकुड़ जाता है, और समष्टि में मृत्यु के कारण कमी आ जाती है। यदि मृत्यु के इन कारणों के उत्पन्न होने से थोड़ा पहले ही बाक्स में से अधिशेष संख्या (Surplus) निकाल ली जाये (Harvesting) तो भी स्थिति पूर्वानुसार ही रहती है।

इस प्रकार इस आवास रूपी काल्पनिक बाक्स में प्रत्येक मौसम में स्थान, भोजन–पानी और आच्छादन जैसी समष्टि के जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की घट–बढ़ होते रहने के बावजूद भी इसकी अधिकतम–समष्टि को धारण करने की एक सीमा है। इस धारण सीमा को समय के संदर्भों में हम इस आवास की ''धारणा–क्षमता'' कह सकते हैं। इस आवास रूपी बाक्स में रहने वाले विभिन्न प्रजाति के जीवों की संख्या को उस प्रजाति के लिए इस आवास (बाक्स) की समष्टियाँ कहा जा सकता है। इस बाक्स (आवास) में यदि किसी स्तर या समय पर स्थान की कमी हो जाय तो स्थान, भोजन की कमी हो

जाय तो भोजन, और पानी की कमी हो जाय तो पानी, उस आवास का सीमाकारी–कारक (LIMITING-FACTOR) कहा जाता है, और ऐसा समय जिसमें सीमाकारी–कारण उत्पन्न हो जाते हैं, (PINCH-PERIOD) संकोचन–अवधि कहलाता है। धारण–क्षमता, आवास, सीमाकारी–कारक और संकोचन–अवधि की वैज्ञानिक परिभाषाएँ और विवेचन उचित स्थानों पर अलग से दी गई हैं, यहां केवल एक काल्पनिक माडल के माध्यम से इस सब का आपस में सम्बन्ध समझने का प्रयास किया गया है।

4.2.1 ''धारण–क्षमता'' (CARRYING CAPACITY)

यद्यपि ''धारण–क्षमता'' किसी आवास विशेष का अपना गुण–धर्म होता है, परन्तु समष्टि में पुनरोत्पादन के द्वारा हुई वृद्धि अर्थात् बढ़ते घनत्व या जीव–भार के उचित पोषण के लिए उस आवास की धारण–क्षमता में वृद्धि होना चाहिए, जो कभी–कभी मौसम बदलने के साथ–साथ स्वयं, अथवा उचित प्रबन्ध–व्यवस्था द्वारा बढ़ाई जा सकती है। यदि एक सीमा के बाद ऐसा करना सम्भव न हो, तो उस क्षेत्र की ऐसी अधिकतम ''धारण–क्षमता'' से अधिक जीवभार का पोषण उस क्षेत्र में संभव नहीं होता।

इस दृष्टि से ''धारण–क्षमता'' समष्टि–घनत्व को नियंत्रित करती है। और इसीलिए समष्टि के संदर्भों में धारण–क्षमता का विशेष महत्व होने के कारण, घनत्व और जीव–भार के साथ ही, ''धारण–क्षमता'' की संकल्पना का वर्णन यहां किया गया है।

किसी आवास की ''धारण–क्षमता'' को निम्नानुसार परिभाषित किया जा सकता है।

(1) ''किसी आवास में किसी प्रजाति के प्राणियों की वह संख्या जो उस आवास द्वारा वर्ष दर वर्ष पोषित की जाती रही है।''

अथवा

(2) ''किसी आवास में समष्टि की वृद्धि की वह ऊपरी अधिकतम सीमा, जिससे और अधिक वृद्धि उस आवास द्वारा पोषित नहीं की जा सकती है।''

अथवा

(3) ''किसी आवास द्वारा स्वस्थ और ओजस्वी स्थिति में पोषित किये जा सकने वाले अधिकतम प्राणियों की संख्या को उस आवास क्षेत्र की धारण–क्षमता कह सकते हैं।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी क्षेत्र द्वारा एक पर्याप्त समय तक पोषित प्राणियों की संख्या की उपरोक्त तीनों स्थितियाँ धारण–क्षमता के तीन विभिन्न स्तर प्रदर्शित करती हैं।

प्रथम स्थिति में संहारकारी कारक (Decimating-Factors) का प्रावधान नहीं रखा गया है। इस प्रकार यह एक सुरक्षित समष्टि (Secured Poplation) की स्थिति है।

द्वितीय प्रकरण में यह धारण प्रबल मानी गई है, कि समष्टि की अधिकतम पोषित संख्या वह होगी, जब जन्म–दर और मृत्यु–दर बराबर हो जायेगी और तब ''जीवीय शक्यता'' (Biotic Potential) व पर्यावरणीय–प्रतिरोध एक स्थिर संतुलित अवस्था में पहुंच जायेंगे। इस अवधारणा का मूल आधार यह माना गया है, कि किसी समष्टि की वृद्धि के प्रारंभ में जीवीय–शक्यता अधिक होने और पर्यावरणीय–प्रतिरोध अति–अल्प होने के कारण समष्टि की संख्या में तीव्र वृद्धि होती है। परन्तु जैसे–जैसे संख्या बढ़ती जाती है उस आवास क्षेत्र की शक्यता कम होती जाती है, और कुछ प्राणियों को भोजन की कमी होने लगती है, भोजन की तलाश में बाहर निकलने के कारण कुछ मर जाते हैं, पोषक तत्वों की कमी के कारण कुछ बीमारियाँ होने लगती हैं। सुविधाओं के उपयोग की स्पर्धा के दबाव में जन्मदर भी गिर जाती हैं। और इस प्रकार संहार कारक स्थितियों के कारण एक अवस्था ऐसी आ सकती है, जब वृद्धि दर शून्य हो जाय, और यही अवस्था उस क्षेत्र की ''धारण–क्षमता'' का संकेत है। इस अवधारणा को पर्ल एवं रीड (1920) ने गणना करके एक वक्र का रूप दिया जिसे उनके नाम पर पर्ल–रीड वक्र या वृद्धिघात–चक्र (Logistic Curve) के नाम से जाना जाता है। सिग्मा (S) के आकार का होने के कारण इसे सिग्मोइड कर्व भी कहते हैं, और इस वक्र के समीकरण को निम्नानुसार प्रदर्शित किया गया है।

$$\frac{\Delta N}{\Delta T} = r\,N\left(\frac{K-N}{K}\right)$$

जहाँ N = कुल समष्टि (Total Population)

T = समय

r = प्रति इकाई समय में प्रति व्यष्टि वृद्धि संख्या, अर्थात् अधिकतम शक्य वृद्धि दर (Maximum Potential rate of Increase)

K = धारण–क्षमता

$\frac{\Delta N}{\Delta T}$ = प्रति इकाई समय 'T' में समष्टि 'N' में वृद्धि (वार्षिक अथवा अर्द्ध–वार्षिक आदि)

उपरोक्त अवधारणा में यह मान लिया गया है कि (1) समष्टि के बढ़ते घनत्व का प्रतिकूल परिस्थितियों से सीधा–सपाट सम्बन्ध है (2) जन्म–दर और मृत्यु–दर एक समान रूप से सदैव क्रियाशील हैं और (3) यह कि समष्टि की प्रत्येक व्यष्टि एक समान है। जबकि ऐसा सदैव सम्भव नहीं हो सकता, अतः उपरोक्त समीकरण गणना के लिए केवल एक माडल का कार्य कर सकता है और व्यवहारिक आधार प्रदान नहीं कर सकता।

तीसरी परिभाषा की अवधारणा का मूल आधार ''अधिकतम–प्रतिपालितलब्धि (Maximum Sustainable Yield) (M S Y) है, जो केवल एक कल्पना है। क्योंकि इस स्थिति में यह परिकल्पना की गई है कि मौसम बदलने, वनस्पति–अनुक्रम और जीव–भार बढ़ने पर भी किसी आवास की ''धारण–क्षमता'' प्रभावित नहीं होती है। धारण–क्षमता को यहां स्थिर लक्षण माना गया है, जो केवल पालतू पशुओं के लिए किसी सीमा तक प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते है कि धारण–क्षमता के लिए अभी तक ज्ञात परिभाषाएँ विभिन्न स्थितियों में विभिन्न अर्थों को जन्म देती हैं। परन्तु फिर भी ये किसी आवास की धारण–क्षमता के आकलन का एक ऐसा स्थूल आधार अवश्य प्रदान करती हैं, जो ''समष्टि–घनत्व को ऐसे स्तर पर परिभाषित करने के लिए आवश्यक है, जहां वह सुरक्षित, स्वस्थ, और ओजस्वी रहने के साथ–साथ केवल इतनी वृद्धि कर सकें कि अपने ही आवास को नष्ट न करने लगे।''

4.3 समष्टि–अभिलक्षण (CHARACTERISTICS OF POPULATION)

संगठन–स्तरों (Organizational Levels) में समष्टि का स्थान जीव और जीव–समुदाय के बीच में स्थित हैं, परन्तु समष्टि के गुणधर्म ऐसे भी हैं, जो न तो जीवों में और न जीव–समुदाय में ही पाये जाते हैं। घनत्व, लिंग और आयु–संरचना, सामाजिक संगठन, प्रसव–दर और मृत्यु–दर आदि ऐसे ही कुछ मुख्य गुण–धर्म अथवा अभिलक्षण हैं, जिनका वर्णन इस अध्याय में आगे किया है। समष्टि–अभिलक्षण क्योंकि एक समूह के व्यवहार–जनित गुणधर्म होते हैं, अतः व्यष्टियों (Individuals) के व्यवहार में ये अभिलक्षण लुप्त एवं अप्रभावी रहते हैं।

4.3.1 घनत्व और जीव–भार (DENSITY AND BIOMASS)

वन्य–प्राणि प्रबन्ध में यह जानकारी पग–पग पर आवश्यक होती है कि किसी क्षेत्र विशेष में कितने प्राणी मौजूद हैं, किसी क्षेत्र के इकाई क्षेत्रफल में पाये जाने वाले प्राणियों की संख्या को उस प्राणी का उस क्षेत्र के लिए निरपेक्ष घनत्व (Absolute Density) कहा जाता है। परन्तु क्योंकि प्राणियों के जन्म लेने, मर जाने अथवा उस इकाई–क्षेत्र से बाहर चले जाने से, यह संख्या निरंतर बदलती रहती है अतः निरपेक्ष–घनत्व को सदैव समय के परिप्रेक्ष में ही देखा जाना चाहिए।

यदि किन्हीं दो भिन्न समष्टियों के घनत्वों की तुलना करने की आवश्यकता आ जाय तब निरपेक्ष–घनत्व की यह संकल्पना बेमानी सी लगने लगती है। जैसे यदि किसी इकाई क्षेत्र (एक वर्ग कि. मी. उदाहरणार्थ) में एक हाथी और पाँच सौ खरगोश पाये जायें तो हाथी का घनत्व एक और खरगोश प्रजाति का घनत्व 500 होगा। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे खरगोश अधिक और हाथी कम हैं। ऐसे प्रकरणों में तुलनात्मक अध्ययन के लिए घनत्व के स्थान पर ''जीव–भार'' (Biomass) शब्द का

उपयोग करना अधिक उचित होगा। ''किसी प्राणी के निरपेक्ष घनत्व में यदि उस प्राणी–जाति के औसत–भार की गुणा कर दी जाय जो जीव–भार प्राप्त होता है।'' इस प्रकार ''जीव–भार'' उन प्राणियों का वह कुल भार है, जो उस इकाई क्षेत्र में रहते हैं। अर्थात् किसी इकाई क्षेत्र में एक समष्टि के समस्त प्राणियों के भार को उस क्षेत्र के लिए उस समष्टि का ''जीव–भार'' कहा जाता है।

घनत्व = संख्या प्रति इकाई क्षेत्र।

जीवभार = घनत्व × औसत भार

= इकाई क्षेत्र की समष्टि का कुल भार

इस प्रकार ''जीव–भार'' की संकल्पना के आधार पर, हम विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न प्रजातियों के आपेक्षिक–घनत्व ज्ञात कर सकते हैं। यहां ''जीव–भार'' शब्द का वही अर्थ है जो ''खड़ी फसल'' (Standing Crop) का वानिकी में है, और उत्पादकता (Productivity) का वही स्थान है, जो वानिकी में वृद्धि (INCREMENT) का है। उष्ण कटिबंधीय वनों और रेगिस्तानों की तुलना में, घास के मैदानों में सबसे अधिक ''जन्तु–जीव–भार'' धारण करने की क्षमता होती है, जबकि वनस्पति ''जीव–भार'' वनों में सर्वाधिक और घास के मैदानों में कम होता है। इसकी तुलना रेखा चित्र क्र. 4.1 में दिखाई गई है। सवाना घास के मैदानों की तुलना में वनों में अधिक ''वनस्पति जीव–भार'' होने के बावजूद भी जन्तु जीव–भार की मात्रा कम ही पाई जाती है, क्योंकि घास के मैदानों की ''जीव–धारणा–क्षमता'' (Carrying-Capacity) विभिन्न निकेतों (Niches) के कारण अधिक होती हैं।

विभिन्न आवासों में जन्तु और वनस्पति जीव भार का सैद्धान्तिक निदर्श

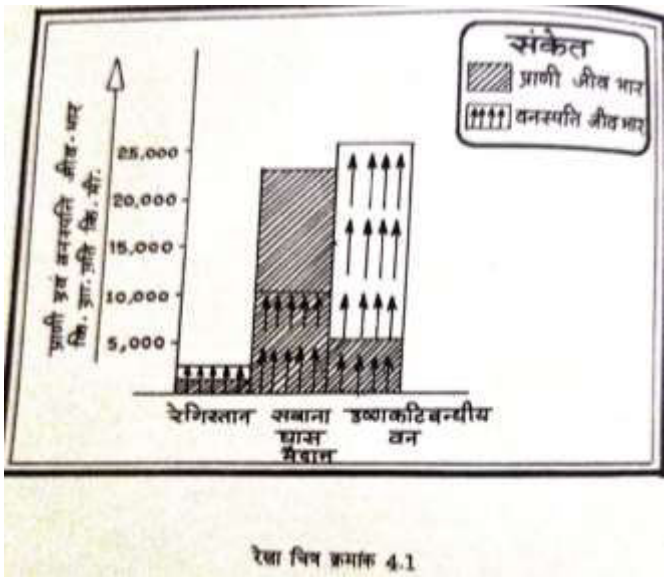

रेखा चित्र क्रमांक 4.1

नीचे तालिका में दिये गये वास्तविक आंकड़े इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

आवास क्षेत्र (1)	प्राणि प्रजाति (2)	घनत्व प्रति वर्ग कि.मी. (3)	जीव भार किलो ग्राम प्रति वर्ग कि. मी. (4)	संदर्भ (5)
(1) पालामउ–राष्ट्रीय उद्यान (बिहार)	हाथी, गौर, चीतल, नील सांभर, सुअर और कांकड, प्रजाति की समष्टि मिलाकर	32.25	1894	आर. सहाय (भारत)
(2) पालामउ में ही अलग–अलग प्रजाति, वार	हाथी –––	0.05	150	
	गौर –––	0.64	417	
	सांभर –––	1.02	146	
	कांकड (बार्किंग) डियर	0.23	4	
	नील गाय	0.21	38	
	जंगली सुअर	19.39	571	
	चीतल	10.73	568	
		32.25	1894	ऐसी ही –
(1) पालामउ पार्क	पालतू पशु	25.86	5818	(औसत वजन 220 कि. प्रति पशु यह प्रदर्शित करता है कि बच्चे जंगल में चरने नहीं जाते)
(2) रायल चितवनरा उ. (नेपाल)				
(क) घास के मैदान और तराई जैसे साल वनों में	गेंडे सहित सभी खुरदार प्राणी	64.3	5612	कीर्तिमान तमांग नेपाल
(ख) साल वनों में	गेंडे को छोड़कर 4 खुरदार प्राणी समष्टि	31.9	1846	ऐसा ही
(3) भरतपुर अभयारण्य राजस्थान	पालतू पशुओं सहित सभी खुरदार प्राणी	–	–	शेलर 1967
	(क) वन्यप्राणि	–	2362	
	(ख) पालतू पशु	–	2009	

(4) टुन्ड्रा (अलास्का)	भूरा लेनिंग (उच्चस्थ समष्टि)	3200	7000	पिठेल्का
(5) अलबर्ट पार्क (कान्गो)	खुरदार वन्यप्राणि (11) प्रजातियाँ	32	2300	ऐसा ही
(6) उष्ण कटिबंधीय वन (श्रीलंका)	हाथी	0.4	650	आइसन वर्ग 1979

''जीव–भार'' गणना के लिए हमें एक ऐसे काल्पनिक ''माध्य प्राणी'' (MEAN-ANIMAL) का वजन लेना होता है, जो अपनी समष्टि के सभी आयु और लिंग वाले प्राणियों के वजन का माध्य (Mean) वजन का प्रतिनिधित्व करता हो, जिस प्रकार वानिकी में हम माध्य–वृक्ष (Mean-Tree) की कल्पना करते हैं। उपरोक्त उदाहरणों से यह भी संकेत मिलता है, कि यह आवश्यक नहीं है कि बड़े–बड़े प्राणी ही अधिक ''जीव–भार'' दे सकते हैं, बल्कि छोटे–छोटे प्राणी भी यदि अधिक संख्या में हो तो कुल जीव–भार में उनका प्रतिशत अधिक रहता है।

(क) निर्वाह–घनत्व (Subsistance Density)

किसी आवास में रहने वाली समष्टि जब ''धारण–क्षमता'' के एक ऐसे उच्च–स्तर पर पहुंच जाती है, जहां इस समष्टि का निर्वाह तो हो सकता है, अर्थात् मात्र जीवित रहने के लिए तो प्रचुर मात्रा में भोजन आदि उपलब्ध हैं, परन्तु अच्छी सेहत और ओजस्वी वृद्धि के संसाधनों की कमी है, तो ऐसी अवस्था में प्राप्त घनत्व को निर्वाह–घनत्व (Subsistance Density) कहा जाता है। निश्चित रूप से यह अवस्था विनाशकारी (Disastrous) और अवांछित होती है, क्योंकि आवास में मामूली से पर्यावरणीय–परिवर्तन अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों से ही भारी संहार होने का भय बना रहता है तथा जनन–क्षमता भी कम हो जाती है।

(ख) इष्टतम–घनत्व (Optimum Density)

कोई समष्टि जब एक ऐसे इष्टतम स्तर पर स्थिर रखी जाय, जहां प्रचुर मात्रा में भोजन एवं अन्य आवश्यक पदार्थ इस प्रकार उपलब्ध बने रहें, कि उनका शारीरिक–आकार, गठन, स्वास्थ्य, वृद्धिदर और प्रजनन–क्षमता उच्चतम स्तर पर बनी रह सके, तो ऐसी अवस्था में प्राप्त घनत्व को ''इष्टतम–घनत्व'' कहा जाता है। आवास में मामूली से असंतुलन से यह समष्टि घनत्व अप्रभावित रहता है और उत्पादकता अत्यधिक रहती है।

उपरोक्त अवस्था को बनाये रखने के लिए अधिशेष संख्या को आखेट आदि के आधार से नियंत्रित किया जाता है, अन्यथा इस समष्टि के ''इष्टतम–घनत्व'' से अधिक बढ़ने की पूरी सम्भावनाएँ

रहती हैं, क्योंकि अनुकूलतम परिस्थितियों के उपस्थित रहने और संहारकारक परिस्थितियों के अनुपस्थित रहने के कारण संख्या का बढ़ जाना आसान होता है।

(ग) सुरक्षा–घनत्व (Security Density)

किसी आवास में विकास के क्रम में उभरकर आई हुई प्रजातियों की समष्टियों में भक्ष्य और परभक्षी (Prey and Predator) की अन्तर्क्रियाओं के फलस्वरूप स्वमेव एक ऐसी स्थिति का निर्माण होता है, जहाँ ये समष्टियाँ सुरक्षा की दहलीज तक सीमित हो जाती हैं। पुनरोत्पादन के फलस्वरूप समष्टि में होने वाली वृद्धि के कारण सुरक्षा–दहलीज (Threshold of Security) के बाहर छलक आई समष्टि परभक्षण (Predation) में काम आ जाती है। इस प्रकार एक ऐसा स्तर बना रहता है कि इस जो आवास की धारण–क्षमता और विशेष रूप से आच्छादन की उपलब्धता के ऊपर निर्भर रहते हुए सुरक्षा–दहलीज तक सीमित रहता है। समष्टि के इस घनत्व को ही सुरक्षा–घनत्व कहा जाता है, जो कभी–कभी इष्टतम–घनत्व के बराबर हो जाता है। परभक्षी प्राणियों की कमी हो जाने पर आखेट द्वारा भी ''सुरक्षा–घनत्व'' का स्तर विनियमित किया जाता है। क्योंकि यह स्थिति विकास के क्रम में स्थापित होती है और समष्टि सुरक्षा–दहलीज के भीतर एक नितांत अनुकूलतम आवास में सुरक्षित, स्वस्थ और ओजस्वी रहती है, अतः कठिन परिस्थिति आ जाने पर भी समष्टि के विनाश का भय नहीं रहता है।

(घ) सह्य–घनत्व (Tolerance Density)

कोई एक आवास किसी समष्टि की जितनी अधिकतम संख्या वहन कर सकता है, उस स्तर को उस आवास का ''सह्य–घनत्व'' कह सकते हैं। यह एक ऐसी संतृप्त–स्थिति (Saturation Stage) है, जिसके आगे अब और अधिक भीड़ सहन नहीं की जा सकती। यह स्तर ''निर्वाह–घनत्व'' (Subsistance Density) के समान भी हो सकता है। दोनों में केवल अन्तर यही है कि ''निर्वाह–घनत्व'' में मुख्य सीमाकारी कारक आवास में उपलब्ध भोजन, छत्र और पानी आदि होते हैं, जबकि ''सह्य–घनत्व'' में आंतरजातीय–संघर्ष सीमाकारी कारक के रूप में मुख्य भूमिका अदा करता है। अतः यह घनत्व अधिकतर क्षेत्रीय (Territorial) प्राणियों में लागू होता है।

4.3.2 समष्टि–संरचना (Population Structure)

किसी समष्टि में विभिन्न आयु वर्ग और विभिन्न लिंग–वर्ग के प्राणियों का अनुपात उस समष्टि का वह गुण–धर्म है, जिसे समष्टि की संरचना कहते हैं, और जो न केवल समष्टि की वृद्धि–दर को सीधे–सीधे प्रभावित करता है, बल्कि वृद्धि रूप (Growth Form) का भी निर्धारण करता है। अतः किसी एक समय विशेष पर उपलब्ध व्यष्टियों के लिंग और आयु के संख्यात्मक समानुपात से ही समष्टि की संरचना का निर्धारण सम्भव है। अर्थात् यदि किसी समय पर किसी समष्टि में नरों की संख्या

मादाओं से अधिक है या मादाओं की संख्या नरों से अधिक है, तो स्पष्ट है कि किसी एक लिंग के व्यष्टियों के जीवित बचे रहने के अवसर दूसरे की तुलना में कम हैं।

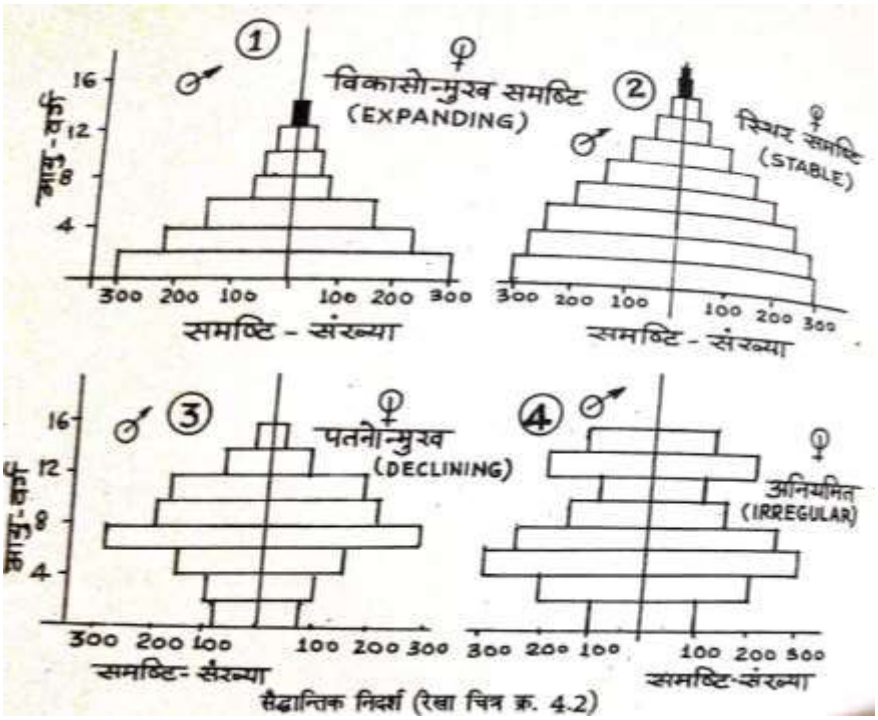

सैद्धान्तिक निदर्श (रेखा चित्र क्र. 4.2)

यदि समष्टि में कभी हमें कम उम्र के प्राणियों की संख्या अधिक प्राप्त होती है तो इससे संकेत मिलता है कि पुनरोत्पादन तो अधिक है, परन्तु वे दीर्घजीवी नहीं हैं। नीचे के रेखा–चित्रों में काल्पनिक आंकड़ों के आधार पर, आयु और लिंग के आधार पर पिरामिड बनाये गये हैं, जिनसे आसानी से यह संकेत प्राप्त किये जा सकते हैं कि यदि पिरामिड का आधार बहुत बड़ा है, तो उस समष्टि में तीव्र गति से वृद्धि हुई। स्थिर और धीमी गति से बढ़ने वाली समष्टि के पिरामिड का आधार संकरा और धीरे–धीरे कम होते हुए ऊपर बढ़ेगा। यदि किसी समष्टि के पिरामिड का आधार संकुचित होता जाता है, तो यह उसके शीघ्र विनाश के संकेत देता है। पिरामिड के विकृत स्वरूप से यह जानकारी मिलती है कि भूतकाल में इस समष्टि के विपरीत संहार–कारक स्थितियाँ क्रियाशील रहीं हैं। यद्यपि वन्य–प्राणियों के लिंग और आयु का निर्धारण करने के लिए दाँत, कान, नाक, सींग, ऐंटलर, शारीरिक गठन, रंग आदि की सहायता ली जा सकती है परन्तु फिर भी यह कार्य अत्यंत दुष्कर है। भारत वर्ष में किसी भी वन्य–प्राणि समष्टि के आयु और लिंग के अनुपात के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। अतः केवल सैद्धांतिक–निदर्श (Theoretical Models) चित्र 4.2 में दिये गये हैं जिसमें समष्टि की चार स्थितियाँ बताई गई हैं :–

1 – विकासोन्मुख समष्टि (Expanding Population)

2 – स्थिर समष्टि (Stable Population)

3 – पतनोन्मुख समष्टि (Declining Population)

4 – अनियमित समष्टि (Irregular Population)

अधिकतर वन्य–प्राणियों में नरों की संख्या मादाओं से कम होती है और 1 : 1 के अनुपात में युगल–बंधन के स्थान पर एक नर के हरम में एक से अधिक मादाएँ होती हैं, जिससे वृद्धि दर अधिक प्राप्त होती है।

4.3.3 सामाजिक संगठन (Social Organization)

किसी समष्टि को एक स्तर पर प्रतिपालित बनाये रखने के लिए उसका सामाजिक–संगठन भी एक मुख्य कारक होता है। खुले मैदानों में आवास करने वाली कुछ प्रजातियों में यूथिता (Gregariousness) अन्यों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है। बिल खोदकर रहने वाले कृंतक (Rodents) चीतल तथा बाइसन आदि इसके उदाहरण हो सकते हैं। कम घने जंगलों में रहने वाले प्राणी कुछ कम यूथिता प्रदर्शित करते हैं, जबकि घने जंगलों में रहने वाले प्राणी प्रायः एकल–प्राणी (Solitary animals) होते हैं। सिंह और शेर में अनेक समानताओं के बावजूद शेर, सिंह की तुलना में अत्यधिक एकल–प्राणी है। कुछ प्रजातियों में प्रजनन–काल में भी यूथिता बनी रहती है और कुछ में युगल–बंधन होकर यूथिता (Gregariousness) अस्थायी रूप में समाप्त हो जाती है या शिथिल हो जाती है। इस स्थिति का प्रभाव पुनरोत्पादन पर भी पड़ता है। कुछ प्रजातियों में लिंग और आयु–झुण्ड (Sex and Age Flocks) निर्मित हो जाते हैं, और एक ही लिंग के अथवा एक ही आयु–वर्ग के प्राणी एक अलग झुंड में रहते हैं, केवल प्रजनन काल में ये झुंड शिथिल हो जाते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से प्रजनन–सत्र को स्पष्ट रूप से रेखांकित करने में सुविधा होती है।

अनेक प्रजातियों में सामाजिक पदानुक्रम–तंत्र (Social Hierarchic-System) बहुत स्पष्ट और प्रभावकारी होता है। समष्टि में प्रत्येक व्यष्टि का पदानुक्रम (Pek Order) उसकी प्रधानता (Dominance) पर निर्भर रहता है। यह पदानुक्रम एक सरल रेखा के रूप में भी हो सकता है, और एक वृत अथवा त्रिकोणात्मक रूप में भी, उदाहरणार्थ 'क' प्राणी 'ख' से, 'ख' प्राणी 'ग' से प्रधान होता है और यही व्यवस्था समष्टि के अंतिम प्राणी तक लागू होती है। त्रिकोणात्मक या वृत–रूपी पदानुक्रम में 'क' प्राणी 'ख' से 'ख' प्राणी 'ग' से, और 'ग' प्राणी पुनः 'क' से प्रधान पदक्रम प्राप्त कर सकता है। पदानुक्रम की व्यवस्था एक–संगठन (Monogamy) और बहु–संगमन (Polygamy) की अवस्थाओं का मार्ग प्रशस्त करती है। जो अंततः समष्टि के अनेक गुणधर्मों की तरह समष्टि–गतिकी (Population Dynamics) को भी प्रभावित करती है।

4.3.4 प्रसव–दर (Natality Rate)

पुनरोत्पादन द्वारा समष्टि में व्यष्टि की वृद्धि दर अर्थात् प्रसव–दर समष्टि का एक मुख्य गुण धर्म है। जन्म, मृत्यु और अभिगमन के कारण ही समष्टि में परिवर्तन होता है। जब ये तीनों कारक संतुलित रहते हैं। तो समष्टि भी स्थिर रहती है। जब प्रसव–दर अधिक तथा मृत्यु–दर और अभिगमन

कम होता है तो समष्टि बढ़ती है। जब जन्म–दर कम और मृत्यु–दर अधिक हो जाती है तो समष्टि घटने लगती है। प्रति इकाई समय में किसी समष्टि में कुल नवजात व्यष्टियों की वृद्धि–संख्या उस समष्टि की प्रसव–दर (Natality) कहलाती है। परन्तु किसी इकाई समय में प्रति प्रजनक–प्राणी (Breeding animal) द्वारा नवजात व्यष्टियों की वृद्धि संख्या को उस प्रजाति की सापेक्ष प्रसव दर (Specific Natality) कहते हैं। यह प्रायः उन प्राणियों में लागू होता है, जिनके एक प्रसव में एक से अधिक बच्चे होते हैं।

यदि किसी चीतल–समष्टि (जिसमें 60 नर 120 मादाएं थीं) की कुल प्रजनक मादा चीतलों ने एक वर्ष में 95 नवजात बच्चों को जन्म दिया हो तो समष्टि की प्रसव–दर 95 प्रतिवर्ष हुई। परन्तु यदि इस समष्टि की केवल 100 प्रजनक मादाओं ने एक वर्ष में कुल 80 बच्चों को जन्म दिया हो तो इसे 80 बच्चे प्रति 100 मादा प्रसव–दर कहा जा सकता है।

किसी समष्टि के बेहतर प्रबन्ध के लिए उसके इस समूह–गुणधर्म, प्रसव दर, को समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। प्रसव दर सामान्यतः किसी प्रजाति के निम्न गुणों पर आधारित रहती है।

(क) संग्राह–आकार (Size of Clutch or Litter):-

एक प्रजनक मादा द्वारा एक प्रसुति में जितने अंड़ों या बच्चों को जन्म दिया जाता है, वह संख्या उस प्रजनक का संग्राह–आकार (Size of Clutch or Litter) कहा जाता है। संग्राह–आकार प्रत्येक प्रजाति का आनुवांशिक गुण होता है। जहां अनेक पक्षी एवं प्रजातियाँ एक प्रसुति में एक अंडा देती हैं, वहीं गिद्ध सामान्यतः दो और एक बटेर 14 अंडे तक देती है। कुछ चौपाये जो भारतीय उपमहाद्वीप में एक–एक बच्चा एक प्रसुति में जनते हैं, उन्हीं की नज़दीकी प्रजातियाँ यूरोप और अमेरिका में दो–दो बच्चे जनती हैं। आनुवांशिक गुण होने के कारण ''संग्राह–आकार'' सामान्यतः स्थिर होता है। परन्तु असामान्य स्थिति में यह न्यूनाधिक भी हो सकता है। जैसे उदाहरण के लिए –

एक महिला एक प्रसुति में एक बच्चा पैदा करती है, परन्तु जुड़वाँ बच्चे होने और 2 से अधिक बच्चे पैदा होने के भी प्रमाण मिलते हैं। सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती हैं, कि जिन प्रजातियों में पैत्रिकरक्षण (Parental Care) की आवश्यकता जितनी अधिक मात्रा में होती है, उनमें उतना ही छोटा ''संग्राह–आकार'' पाया जाता है। उदाहरणार्थ मछलियाँ सैकड़ों अंडे एक प्रसुति में देती हैं, क्योंकि उन्हें उनकी कोई पैत्रिक–रक्षण की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती। परन्तु स्तनधारी प्राणियों में उसी अनुपात में ''संग्राह–आकार'' छोटा होता जाता है, जिस अनुपात में उनका ''पैत्रिक–रक्षण'' आवश्यक होता है। बच्चों के जवान और परिपक्व और जीवित रहने के लिए प्रशिक्षित होने में लगने वाले अधिक समय के कारण भी संग्राह–आकार छोटा हो जाता है।

(ख) प्रजनन–सत्र की अवधि और संग्राह की संख्या (Length of Breeding- Season And Nos. of Clutches or Litters Per Year):-

किसी समष्टि में प्रति वर्ष होने वाली वृद्धि केवल संग्राह के आकार पर ही नहीं, बल्कि इस बात पर भी निर्भर करती है, कि एक वर्ष में उस समष्टि के प्रजनक द्वारा कितनी बार प्रसुति की जाती है। जिन प्रजातियों में गर्भावधि (Gestation Period) बहुत कम होता है, वे वर्ष में अनेक बार प्रसूति कर सकती हैं। कुछ प्रजातियों में प्रजनन–योग्यता उनके जन्म के कुछ ही समय बाद प्राप्त हो जाती है। जिसके कारण वे जल्दी ही प्रजनन का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। और इसके विपरीत कुछ प्राणियों में यह योग्यता कई–कई वर्षों के बाद आती है, तथा अनेक प्राणियों में गर्भावधि भी कई–कई वर्ष तक की होती है, ताकि इतने अधिक बच्चे पैदा न हो जावें, जिनकी सुरक्षा एवं प्रशिक्षण उनके लिए कठिन हो जाय। तालिका में कुछ प्रजातियों के संग्राह–आकार और संग्राह की संख्या उदाहरणार्थ दर्शायी गई है।

तालिका से स्पष्ट है कि कुछ प्राणियों में प्रजनन काल बहुत स्पष्ट और सुपरिभाषित होता है। शीतोष्ण क्षेत्र में अधिकतर प्रजनन वसंत ऋतु (Spring) में और उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में प्रजनन–काल वर्षा ऋतु में होता है। अनेक प्रजातियाँ ऐसी भी हैं, जिनका कोई स्पष्ट (Pronounced) प्रजनन–काल नहीं होता और वे वर्ष के किसी भी मौसम में प्रजनन करती हैं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि उस क्षेत्र में उस प्रजाति के भोजन, आच्छादन एवं अन्य आवश्यकताओं की दृष्टि से सर्वोत्तम मौसम में ही अधिक प्रजनन होता है।

कम से कम और अधिक से अधिक प्रजनन–योग्य–आयु (Breeding Age) भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो समष्टि में वृद्धि की मात्रा उल्लेखनीय रूप से प्रभावित करती है। हाथी की एक समष्टि में बच्चों की संख्या बहुत कम मिलेगी क्योंकि कम से कम 13–14 वर्ष के बाद ही एक मादा हाथी प्रजनन–योग्य होती है, और तब तक वह उस समष्टि का अप्रजनक–सदस्य बनी रहती है। इसके विपरीत एक वर्ष में ही प्रजनन योग्य एन्टीलोप (ANTILOP) समष्टि के सभी सदस्य प्रजनन योग्य हो जाते हैं।

(ग) लिंग अनुपात एवं संगम–व्यवहार (Sex Ratio and Mating- Behaviour):-

कुछ प्रजातियों में एकल–संगमन (Monogamy) और कुछ में बहु–संगमन (Polygamy) और कुछ में स्वच्छन्द संगमन (Promiscuous) व्यवहार पाया जाता है। यदि कोई प्रजाति एकल–संगमन वाली है और उसमें लिंग अनुपात बराबर–बराबर है, तो अधिक वृद्धि दर प्राप्त होगी। और पोलीगेमस है तो नर कम और मादा अधिक होने पर अधिक बच्चे प्राप्त होंगे।

यदि बटेर की एक ऐसी समष्टि की कल्पना करें, जिसमें दोनों लिंग की कुल संख्या 100 है, तब यदि 75 नर और 25 मादा हुई तो केवल 25 युगल–बन्धन सम्भव है, क्योंकि बटेर एक–संगमी होते हैं। और इस प्रकार केवल 25 संग्राह प्राप्त होंगे। परन्तु यदि यही अनुपात 50 नर और 50 मादा का होता, तो हमें 50 संग्राह प्राप्त हो सकते हैं। यदि नर 25 और मादा 75 हो जाएँ तब भी हमें केवल 25 संग्राह प्राप्त होंगे। जंगल–फाउल के प्रकरण में यदि 20 नर और 80 मादा का अनुपात हो, तो हमें 80 संग्राह (Clutch) प्राप्त हो सकते हैं। क्योंकि जंगल फाउल बहु–संगमी होते हैं। इस प्रजाति में यदि 50 नर और 50 मादा होती, तो हमें केवल 50 संग्राह ही प्राप्त हो सकते हैं।

4.3.5 मृत्यु–दर (Mortality Rate)

जीवों की मृत्यु के अनेकानेक कारण होते हैं, जिनमें आयु पूर्ण हो जाने के बाद शरीर–क्रियात्मक–विच्छेदन (Physiological break-down) भी एक है। यदि मृत्यु के सभी अन्य कारण समाप्त कर दिये जाएँ तो हम कम से कम मृत्युदर प्राप्त कर सकते हैं। जिसमें केवल वृद्ध प्राणी ही आयु पूर्ण होने के बाद मरेंगे। यह स्थिति उसी प्रकार अव्यवहारिक है जैसी कि अधिकतम प्रसव–दर की स्थिति प्राप्त करना। आयु पूर्ण होने से पूर्व ही अनेक संहार–कारक परिस्थितियों में प्राणियों की मृत्यु होती रहती है। वन्य–प्राणि प्रबंध में हमारा उद्देश्य मृत्यु के निम्न कारकों के संहारक प्रभाव को कम से कम करना होता है।

(क) परभक्षण (Predation)

(ख) बीमारियाँ (Disease)

(ग) पेरासाइट्स (Parasites)

(घ) विपरीत मौसम (Adverse Weather)

(च) विष देना (Poisoning)

(छ) दुर्घटनाएँ (Accidents)

(ज) भूखमरी (Starvation)

(झ) दबाव (Stress)

(ट) शिकार (Hunting)

मृत्यु के जिम्मेदार उपरोक्त संहार कारक अवयवों की विस्तृत विवेचना वन्य प्राणी–प्रबन्ध अध्याय में उचित स्थान पर की गई है।

4.3.6 परिक्षेपण–दर (Rate of Dispersal):-

किसी प्राणी–समष्टि के परिक्षेपण (Dispersal) के विषय में तीसरे अध्याय में सम्यक विवेचना दी गई है, और अब हम यह समझ चुके हैं कि किसी समष्टि में दो प्रकार के परिक्षेपण हो सकते हैं, उत्प्रवास (EMIGRATION) और आप्रवास (IMMIGRATION)।

परिक्षेपण के कारण ही यह सम्भव हो सका है कि समष्टियाँ पृथ्वी पर दूर–दूर तक नये–नये क्षेत्रों में फैल सकीं, और किसी एक ही क्षेत्र के आवासों का अत्यधिक उपयोग होने से आवासों के विनाश का खतरा टल गया।

परिक्षेपण की दर (Rate of Dispersal) प्रत्येक प्रजाति में भिन्न–भिन्न होती है। उदाहरणार्थ कान्हा में जिस दर से चीतल और बारहसिंघा नये–नये क्षेत्रों में परिक्षेपित हुए वहीं कृष्ण–मृग केवल उसी क्षेत्र तक सीमित रह गया, जहां उसे प्रतिस्थापित किया गया था। परिक्षेपण की दर किसी समष्टि का विशेष गुण–धर्म है, और समष्टि–गतिकी तथा समष्टि की अन्तर–क्रियाओं के आकलन के लिए महत्वपूर्ण है।

4.3.7 विक्षेपण (Dispersion):-

किसी आवास में समष्टि की व्यष्टियाँ जिस ढंग से पूरे क्षेत्र में फैली हुई (Distributed) पाई जाती हैं, उसे उस समष्टि का विक्षेपण (Dispersion) कहा जाता है। यह विक्षेपण तीन प्रकार का हो सकता है–

(क) यादृच्छिक–विक्षेपण (Random Dispersion):-

इसे संयोगिक अथवा अनियमित वितरण भी कह सकते हैं। इस अवस्था में आवास के किसी एक स्थान पर किसी व्यष्टि के पाये जाने की जितनी सम्भावनाएँ होती हैं, उतनी ही सम्भावनाएँ किसी दूसरे स्थान पर मिलने की भी होती हैं।

(ख) एक समान बंटन (Uniform Distribution):-

वह अवस्था, जब समष्टि के सभी व्यष्टि अपने आवास क्षेत्र में एक समान रूप से अथवा यादृच्छिक–विक्षेपण की तुलना में अधिक नियमित रूप से फैले हुए रहते हैं, ''एक समान विक्षेपण'' (Uniform Dispersion) कहलाती है। उदाहरणार्थ–किसी वृक्षारोपण क्षेत्र में समान अंतराल पर रोपे गये पौधे।

(ग) गुच्छन–विक्षेपण (Clumped Dispersion):-

विक्षेपण की इस अवस्था में समष्टि के व्यष्टि (Individuals) अनेक झुरमुटों (Clumps) के रूप में पाये जाते हैं। प्रकृति में अधिकतर प्राणी–समष्टियाँ विक्षेपण की इसी अवस्था में रहती हैं।

उदाहरण के लिए पक्षियों का झुंड और नर और मादा सांभरों के अलग–अलग झुंड, जो संगम काल के बाद निर्मित होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी समष्टि द्वारा आवासित क्षेत्र में समष्टि के व्यष्टि उपरोक्तानुसार विभिन्न प्रकार से वितरित पाये जाते हैं। इसका मुख्य कारण इन प्रजातियों का सामाजिक व्यवहार होता है। कुछ प्रजातियों, जैसे बन्दर, सामाजिक–पुंजन (Social Aggregation) प्रदर्शित करती हैं, और गुच्छों अथवा झुंडों में रहती हैं। कभी–कभी तो पूरी समष्टि एक ही समूह में रहकर अपने आवास में इधर से उधर विचरण करती रहती है। कुछ खुरदार प्राणियों (Ungulates) में लिंगवर्ग और आयुवर्ग के अलग–अलग झुंड बन जाते हैं और संगम–काल में एक नर के साथ अनेक मादाएँ मिलकर हरम के रूप में भी रहती हैं। कुछ कृंतक (Rodents) कॉलोनी बनाकर रहते हैं। इसके विपरीत अनेक मांसाहारी प्राणी जैसे शेर, तेन्दुआ आदि यादृच्छिक (Random) वितरण प्रदर्शित करते हैं। परन्तु इनमें भी झुडों में रहकर शिकार करने वाले प्राणी उदाहरणार्थ सोन कुत्ते, गुच्छन–विक्षेपण प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार विक्षेपण गुण भी समष्टि का एक महत्वपूर्ण गुण–धर्म है।

4.3.8 वृद्धि–रूप (GROWTH-FORM):-

वन्य–प्राणि–प्रबन्ध के अंतर्गत विभिन्न उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु ओजस्वी और अधिकतम प्रतिपालित–समष्टि के लिए तथा आखेट हेतु अधिशेष उत्पादकता आदि के लिए, हमें उस आवास की समष्टि के वृद्धि रूप का (Growth Form) का ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। प्रजनन–शक्यता (Breeding Potential) और पर्यावरणीय–प्रतिरोध की अंतक्रियाओं के प्रतिफल ही उस समष्टि के वृद्धि के स्वरूप का निर्धारण करते हैं। परन्तु समष्टि में वृद्धि की दर व्यष्टियों की संख्या में वृद्धि के साथ–साथ बदलती रहती है और जब समष्टि अपनी अधिकतम संख्या पर पहुंच जाती है, तो पुनरोत्पादन की दर गिरने लगती है।

(क) सिगमा वृद्धि–रूप (Sigmoid Growth Form):-

समष्टि के प्रारंभ में पुनरोत्पादन की दर बहुत तीव्र होती है फिर धीरे–धीरे कम होती जाती है और जीवीय शक्यता के स्तर पर पहुंच कर एक स्थिरांक पर रूक जाती है। इस व्यवहार को समष्टि का सिग्मोइड कर्व "S" कहा गया है। क्योंकि वृद्धि–दर के आंकड़ों को यदि समय के सन्दर्भों में ग्राफ पर उकेरा जाये तो उस स्थिति में हमें "S" (Sigma) की आकृति प्राप्त होती है। गणित में रीड और पर्ल (1920) के समीकरण $\frac{\Delta N}{\Delta T} = \frac{(RN\ K-N)}{K}$ जिसे (Logistic) समीकरण भी कहते हैं, से भी हमें इसी आकृति का कर्व (वक्र) प्राप्त होता है। परन्तु वृद्धि का यह स्वरूप केवल प्रयोगशाला की सीमाओं के भीतर ही सही उतरता है। विभिन्न आवासों में विभिन्न प्रकार के आंतरिक समायोजन–कारकों

(Internal Adjustment Factors) के विद्यमान रहते हुए वृद्धि का यह रूप प्राप्त नहीं होता। आस्ट्रेलिया में छोड़े गये विदेशज (Exotic) शशकों (Rabits) की समष्टि और इंग्लिश स्पेरो की समष्टि ने यद्यपि सिग्मोइड स्वरूप में ही वृद्धि रूप प्रदर्शित किया है। परन्तु नये क्षेत्र और पहले से अधिवासित क्षेत्र में वृद्धि–रूप भिन्न रहता है और सबसे मुख्य बात यह है कि प्रत्येक प्रजाति का वृद्धि–रूप एक समान नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक प्रजाति की व्यष्टियों की स्वयं के लिए क्षेत्र की आवश्यकता (Requirement of Space) अलग–अलग होती है, और यह कारक वृद्धि–रूप को विशेष रूप से प्रभावित करता है।

अनेक बार ऐसा भी दृष्टिगोचर हुआ है कि केवल एक मादा खरगोश ने कुछ ही वर्षों में एक भारी समष्टि स्थापित कर दी और वहीं इसके विपरीत कुछ प्रजातियों में यदि किसी कारण से कोई समष्टि एक निम्नतम सीमा तक पहुँच गई तो बढ़ने के बजाय समाप्त हो जाती है, ऐसी निम्नतम संख्या को ''समाप्ति कगार'' (Extinction Threshold) नाम दिया गया है। बहुत बिरले रूप में बसी हुई समष्टि में संगमन (Mating) की सम्भावनाएँ वैसे भी बहुत कम हो जाती हैं।

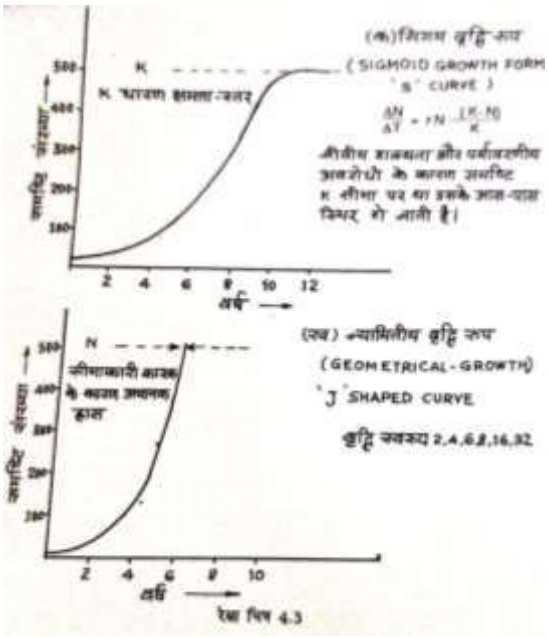

(ख) ज्यामितीय वृद्धि–रूप (Geometric Growth Form):-

यदि यह मान लिया जाय कि आवास अनुकूलतम है, परभक्षण या अन्य संहारकारी कारक अनुपस्थित हैं, और समष्टि ज्यामितीय दर से वृद्धि कर रही है (अर्थात् 2 से 4, 8, 16, 32, 64, ..) तो एक स्थिति ऐसी आयेगी, जब संसाधनों की कमी हो जायेगी। इस स्थिति में वृद्धि एकदम रूक जायेगी।

इस स्थिति को यदि ग्राफ पर प्लाट किया जाये तो J आकृति प्राप्त होगी इसलिए इस वृद्धि रूप को "J" आकृति–वृद्धि–रूप ("J" Shaped Growth-Form) भी कहते हैं। देखें ग्राफ आकृति क्रमांक 4. 3।

इस संदर्भ में बटेर का उदाहरण लें, तो अनुकूल आवास और संहारकारी कारकों की अनुपस्थिति में वृद्धि–दर निम्न प्रकार हो सकती है।

बटेर एकल–संगमी (Monogamous) होती है, और एक वर्ष की आयु–वर्ग की बटेर प्रति वर्ष एक संग्राह में 6–14 तक अंडे देती है। अब मान लें कि औसत 10 अंडे प्रति मादा प्रति वर्ष प्राप्त होते हैं और इनमें से आधे अर्थात् 5 नर और 5 मादा बनते हैं तो वृद्धि दर निम्नानुसार होगी।

	1 अवधि	2 बच्चे	3 वयस्क		4 कुल
(1)	प्रथम वर्ष के अंत में	10	+2	=	12
(2)	द्वितीय वर्ष के अंत में	(12÷2)×10=60	+12	=	72
(3)	तृतीय वर्ष के अंत में	(72÷2)×10=360	+72	=	432
(4)	चतुर्थ वर्ष के अंत में	(432÷2)×10=2160	+732	=	2592

इस प्रकार चौथे वर्ष के अन्त तक हमारे पास 2 बटेर के स्थान पर 2592 बटेर हो सकती हैं, परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नहीं होता, क्योंकि इसका बहुत बड़ा हिस्सा जन्म ही नहीं ले पाता, कुछ मौसम और अन्य संहारकारी–कारकों के कारण समाप्त हो जाते हैं, और जब उत्पादन और पर्यावरणीय–प्रतिरोधों के बीच एक संतुलन की स्थिति आ जाती है, तो यह समष्टि–संख्या स्थिर (लगभग) हो जाती है, इसी सीमा को उस आवास की 'धारण–क्षमता' कहा जाता है। दिये गये ग्राफ (आकृति क्र. 4.3) में उपरोक्त स्थितियाँ स्पष्ट की गई हैं।

बटेर की समष्टि के उपरोक्त उदाहरण में यदि 25 प्रतिशत संहारकारी कारकों और 25 प्रतिशत अन्य दुश्मनों, शिकारियों आदि के कारण मर जाती हों, तो स्थिति निम्नानुसार होगी।

अवधि	बच्चे	+	वयस्क	=	योग	–	संहार	–	शिकार	=	शेष
प्रथम वर्ष के अंत में	10	+	2	=	12	–	3	–	3	=	6
द्वितीय वर्ष के अंत में (6÷2)×10=	30	+	12	=	42	–	10	–	10	=	22
तृतीय वर्ष के अंत में (22÷2)×10=	110	+	22	=	132	–	33	–	33	=	66
चतुर्थ वर्ष के अंत में (66÷2)×10=	330	+	66	=	396	–	99	–	99	=	198

इस प्रकार हम देखते हैं कि 2592 की भारी संख्या के विरूद्ध केवल 198 व्यष्टि ही चौथे वर्ष के अंत में शेष रहते हैं।

4.4 समष्टि अभिलक्षणों की अन्तर्क्रिया (Interaction of Population Characteristics)

समष्टि–अभिलक्षणों की उपरोक्त अलग–अलग विवेचना से स्पष्ट है, कि किस प्रकार घनत्व, आयु और लिंग का अनुपात, सामाजिक संगठन, प्रसूति–दर, मृत्यु–दर परिक्षेपण–दर, विक्षेपण और वृद्धि रूप–अभिलक्षणों का समष्टि और समष्टि गतिकी पर सीधा और महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव किसी एक अभिलक्षण या गुण–धर्म का ही प्रतिफल नहीं होता, बल्कि समस्त अभिलक्षणों की अन्तर्क्रियाओं से दिशा प्राप्त करता है।

समष्टि–घनत्व यदि किसी आवास की ''धारण–क्षमता'' से कम है तो समष्टि में वृद्धि होगी, मृत्यु–दर कम होगी और प्रसूति दर बढ़ जायेगी क्योंकि सभी व्यष्टियों को प्रचुर मात्रा में भोजन आच्छादन एवं अन्य आवश्यक सामग्री उपलब्ध रहेगी और यह वृद्धि जीवीय शक्यता (BIOTIC POTENTIAL) तक जारी रह सकती है। परन्तु क्योंकि कोई भी आवास असीमित धारण–क्षमता नहीं रख सकता, इसलिए वृद्धि और जीवीय–शक्यता दर के विरूद्ध संहारकारी कारक सक्रिय हो जाते हैं, और मृत्यु–दर बढ़ जाती है, पर्यावरणीय–प्रतिरोध भी प्रसूति–दर कम कर देते हैं। इस प्रकार ''जीवीय–शक्यता'' वृद्धि की दिशा में तथा पर्यावरणीय–प्रतिरोध संहार करने और प्रसूति दर कम करने की दिशा में कार्य करते हैं। इन सब कारकों की अन्तर्क्रिया के फलस्वरूप जब संतुलन की कोई अवस्था आती है, तो समष्टि भी स्थिर हो जाती है, और जब तक असंतुलन रहता है, अर्थात् जीवीय–शक्यता अधिक और प्रतिरोध कम रहता है तो समष्टि बढ़ती है। इसके विपरीत स्थिति होने पर अर्थात् पर्यावरणीय–प्रतिरोध अधिक बढ़ जाने पर समष्टि घटने लगती है।

4.5 आखेट–योग्य अधिशेष (Shootable Surplus):-

उपरोक्त स्थिति की विवेचना से स्पष्ट है कि पूर्णतः सुरक्षित क्षेत्र में भी एक स्थिति ऐसी आती है, जिसके आगे जन्मदर और मृत्यु–दर समान हो जाती है, अथवा संहारकारी–कारक स्वयं ही समष्टि की वृद्धि पर रोक लगा देते हैं। अतः यदि इस संतुलन की स्थिति के प्राप्त होते ही, या ठीक पहले, हम कुछ व्यष्टियों को आखेट द्वारा निकास (Harvest) कर लें तो संतुलन की स्थिति तक इस समष्टि को बढ़ने के अवसर पुनः मिल जाते हैं, और यदि आखेट नहीं करते हैं, तो भी इस संतुलन–स्तर के बाद संहारकारी–कारकों के कारण समष्टि का उतना अधिशेष भाग स्वतः ही मरता जायेगा। अतः किसी आवास की धारण–क्षमता से अधिक व्यष्टि–संख्या ''आखेट–योग्य–अधिशेष'' हुई और इस आखेट द्वारा

निकास (Harvest) कर लेना सुरक्षित है। यदि आखेट द्वारा इनका उपयोग नहीं किया जाता है, तो पारिस्थितिकी–तंत्र में अन्य परभक्षी–प्राणियों आदि द्वारा इनका सदुपयोग कर लिया जाता है।

4.6 समष्टि–उच्चावचन–परिघटना (Population Fluctuation Phenomenon):-

किसी प्राकृतिक या कृत्रिम कारण से किसी आवास की धारण–क्षमता के बढ़ने या घटने से उसकी समष्टि में उत्थान और पतन तो हो ही सकता है, परन्तु अनेक समष्टियों में धारण–क्षमता के परिवर्तन के बिना भी एक निश्चित प्रकार का उत्थान–पतन दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार के उच्चावचन (Fluctuation) की परिघटनाओं का कोई निश्चित वैज्ञानिक आधार अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। आल्डोलियो–पॉल्ड (गेम मेनेजमेंट 1931) ने ऐसे उच्चावचनों के आधार पर समष्टि को तीन वर्गों में विभाजित किया है।

(1) स्थिर समष्टि (STABLE POPULATION):-

जब किसी समष्टि में होने वाला उच्चावचन (Fluctuation) बहुत ही हल्का हो अथवा बहुत तीव्र उच्चावचन अनुपस्थित हो, तो ऐसी समष्टि ''स्थिर–समष्टि'' कहलाती है। वर्ष–दर–वर्ष मौसम, वर्षा और तापमान में मामूली से परिवर्तन से होने वाले उच्चावचन के बावजूद वर्ष के अंत में यह समष्टि अपनी पूर्व अवस्था में लौट आती है। इस अवस्था को आकृति 4.4 में वक्र क्र. 1 के द्वारा प्रदर्शित किया गया है और इस वक्र को समतल–वक्र (Flat Curve) भी कहा गया है।

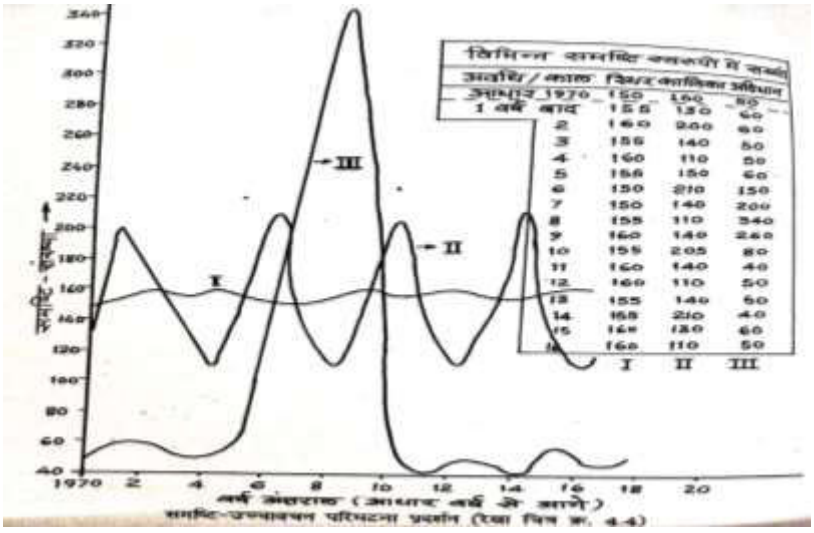

(2) चक्रीय–समष्टि (CYCLIC POPULATION):-

जब किसी समष्टि में एक निश्चित अवधि (काल) के बाद एक निश्चित परिमाण (amplitude) में असाधारण उच्चावचन की परिघटना परिलक्षित होती है, तो ऐसी समष्टि को चक्रीय–समष्टि और इस परिघटना को समष्टि–चक्र (Population Cycle) कहते हैं। चक्रीय समष्टि आकृति क्र. 4.4 के वक्र क्र. (2) में दिखाई गई है। समष्टि चक्र दो प्रकार के हो सकते हैं :–

(क) वार्षिक समष्टि चक्र :–

जब कोई प्राणी–समष्टि किसी आवास में अच्छी तरह स्थापित हो चुकी होती है, परन्तु प्रसव–सत्र में यदि अनुकूलतम परिस्थितियाँ मिल जाय और वनस्पति वृद्धि–सत्र के दौरान ही प्रसव–सत्र आ गया हो तो समष्टि में असाधारण वृद्धि हो जाती है, जो कि उस आवास की धारण–क्षमता के स्तर को भी पार कर सकती है। पुनः मौसम के बदलने के साथ–साथ मृत्यु–दर में वृद्धि होती है, और समष्टि अपने मूल स्तर पर आ जाती है। (आकृति क्रमांक 4.5)

उपरोक्त ग्राफ में स्पष्ट है कि जो स्थिति माह जून में इस समष्टि की थी वह वृद्धि–सत्र में अत्यधिक बढ़कर पुनः अगले वर्ष के जून माह में अपनी पूर्व स्थिति में आ गई। इस प्रकार के चक्र को ''वार्षिक चक्र'' कहा जाता है।

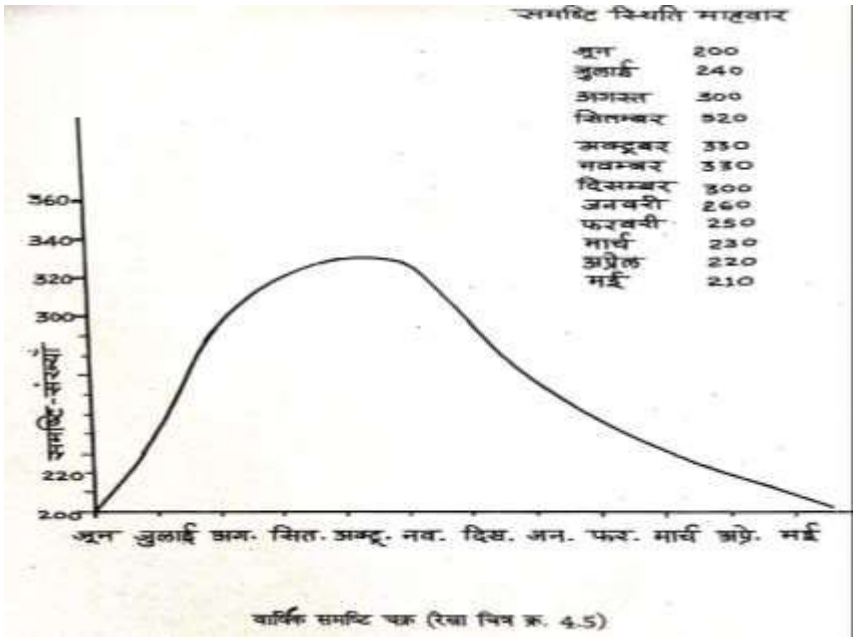

वार्षिक समष्टि चक्र (रेखा चित्र क्र. 4.5)

(ख) कालिक समष्टि चक्र (Periodic Cycles of Population):-

जब किसी समष्टि में होने वाले उच्चावचन की अवधि एक वर्ष से अधिक होती है वह चक्र ''कालिक–समष्टि–चक्र'' कहलाता है। यह अवधि 3–4 वर्ष से लेकर 34 वर्ष तक की भी देखी गई है।

अत्यंत बड़े क्षेत्रों या प्रायः शीतोष्ण वनों में जहां तापमान बहुत कम, वर्षा भी बहुत कम और भोजन श्रृंखलाएँ भी बहुत सीधी और सरल होती हैं, वहां अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण ही बहुत ही स्पष्ट उत्थान और स्पष्ट ही समष्टि–पतन दृष्टिगोचर होता है।

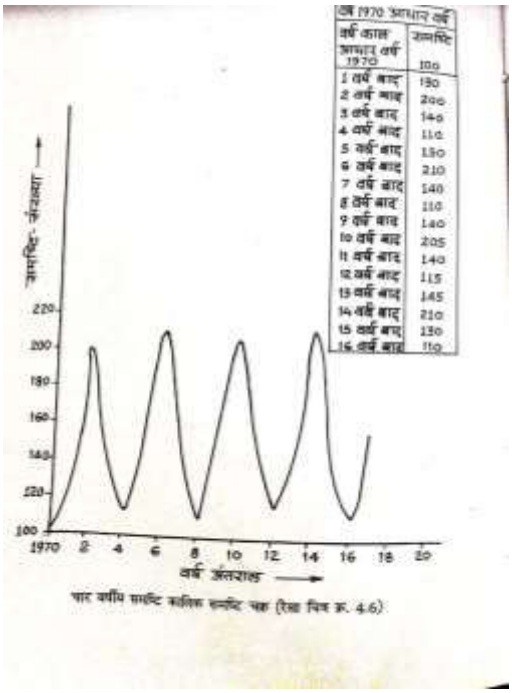

उदाहरण के रूप में अमेरिका के टुन्ड्रा क्षेत्र में पाई जाने वाली लेमिंग और बोल की कृंतक प्रजातियों में तीन से चार वर्ष का ''कालिक–समष्टि–चक्र'' पाया जाता है। चार्ल्स एल्टन (1942) फ्रिट्ज फ्रेंक (1957) और एल.ए. पिटेल्का (1957) ने समष्टि चक्रों के अध्ययन से जो परिणाम प्राप्त किये, उनका सार–संक्षेप यह है कि लेमिंग और बोल आदि समष्टियाँ अपनी जीवीय–शक्यता के कारण अनुकूलतम वर्ष में आवास की धारण–क्षमता से काफी अधिक वृद्धि प्राप्त कर लेती हैं, और अलग–अलग क्षेत्र में अलग–अलग कारणों से विनष्ट भी हो जाती हैं। अत्यधिक समष्टि स्वयं अपने आवास को विनष्ट कर लेती है, जिसके परिणामस्वरूप परभक्षण तथा आच्छादन की तत्काल कमी के कारण प्रतिकूल मौसम आदि संहारकारी कारक समष्टि को समाप्त कर देते हैं। इस प्रक्रिया में कभी 3 वर्ष और कभी किसी क्षेत्र में 4 वर्ष लगते हैं। अगले 3–4 वर्ष में यह समष्टि पुनः उच्चतम स्तर पर पहुँच जाती है। समष्टि में इतने उच्च–स्तर पर पहुँचने के लिए इन प्रजातियों में किसी क्षेत्र विशेष में ''भीड़ सहन करने की क्षमता'' (Ability to tolerate crowding) का बढ़ जाना भी एक कारण माना गया हैं।

जब बोल या लेमिंग समष्टि अपने उच्चतम स्तर पर होती है, तो इनके परभक्षण पर आश्रित रेड फोक्स भी उसी अनुपात में बढ़ जाती है, लेकिन जैसे ही लेमिंग या बोल समष्टि नष्ट हो जाती है, तो परभक्षी रेड फोक्स समष्टि भी भोजन के अभाव में नष्ट हो जाती है।

अगले वर्षों में जैसे–जैसे बोल या लेमिंग की समष्टि बढ़ती है तो रेड–फोक्स की समष्टि भी बढ़ने लगती है। इस प्रकार इनका चक्र भी 3 से 4 वर्ष का हो जाता है और इसका चक्र कुछ आकृति क्र 4.4 (ii) और 4.6 से मिलता–जुलता होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

1. ऑवर्टन डब्लयू स्कांट,	1971	एस्टिमेंटिंग दि नम्बर्स आफ एनिमल्स इन वाइल्ड लाइफ पोपुलेशन्स, जर्नल वाइल्ड लाइफ मेनेजमेंट टेक्नीक्स, दि वाइल्ड लाइफ सोसाइटी, वाशिंगटन 1971.
2. कोतवाल पी. सी.	1982	इवेल्युवेशन आफ वाइल्ड लाइफ हेबिटेट्स पेरामीटर्स एंड प्रोसीजर्स पेपर फार ए वर्कशाप आन टेकनीक्स इन वाइल्ड लाइफ रिसर्च एंड मेनेजमेंट कान्हा इन्डिया 1982।
3. कोर्शजन लेरोय जे	1971	प्रोसीजर्स फार फूड हेबिट्स एनेलेसिस, वाइल्ड लाइफ मेनेजमेंट टेक्नीक्स दि वाइल्ड लाइफ सोसाइटी वाशिंगटन 1971।
4. गेब्रियल्सन ईरा एन.	1943	वाइल्ड लाइफ रिफ्युजिस, दि मेकमिलन कम्पनी न्यूयोर्क 1943।
5. गेब्रियल्सन ईरा एन.	1941	वाइल्ड लाइफ कन्सर्वेशन, मेकमिलन कम्पनी न्यूयोर्क।
6. चौधरी एस. आर	1972	टाइगर सेंसस इन इंडिया, चीतल वोल्यूम 15 नं.।
7. जयराजन ओ.	1983	पगमार्क सेंसस, चीतल वो. 25 क्र. 3–4।
8. ट्रिपेन्सी रियुवन एडविन	1948	वाइल्ड लाइफ मेनेजमेंट, मेक ग्रा हिल बुक कम्पनी, न्यूयोर्क
9. नायर पी. वी. और एम. गाडगिल	1980	दि स्टेट्स एंड डिस्ट्रीब्यूशन आफ एलीफेंट पोपुलेशन्स ऑफ कर्नाटका, जर्नल बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी, 75 989–999।
10. पवार एच. एस.	1982	मेनेजमेंट आफ वाइल्ड लाइफ हेबिटेट्स इन इन्डिया। पेपर फार ए वर्कशाप आन टेक्नीक्स इन वाइल्ड लाइफ रिसर्च एंड मेनेजमेंट, कान्हा इंडिया।
11. पवार एच. एस.	1987	दि टाइगर, इनसाइट गाइड इन्डियन वाइल्ड लाइफ में, ए.पी.ए. प्रोडक्शन्स 1987।
12. पवार एच. एस.	1980	ए नोट आन टाइगर सेंसस टेक्नीक बेस्ड आन पगमार्क ट्रेसिंग, चीतल वोल्यूम 42 क्र .1 और 2 पृष्ठ 40–41।
13. प्रेटर एस. एच.	1965	दि बुक आफ इंडियन मेमल्स, बाम्बे नेचुरल हिस्ट्री सोसाइटी बाम्बे इंडिया।
14. फिलिप स्ट्रीट	1970	वाइल्ड लाइफ प्रिजर्वेशन हेनरी रेग्जरी कम्पनी, शिकागो।

15. सक्सेना बी. एस.	1982	वाटरफाउल मेनेजमेंट पेपर वर्कशाप आन टेकनीक्स इन वाइल्ड लाइफ रिसर्च एंड मेनेजमेंट कान्हा इन्डिया 1982।
16. समर सिंह	2002	कन्सर्विंग इंडियाज़ नेचुरल हेरिटेज, नटराज पब्लिशर्स देहरादून, भारत।
17. सर एडमंड हिलेरी	2011	इकोलोजी 2013, दि चेंजिंग फेस आफ अर्थ, मिकाइल जॉजेफ लंदन।
18. सिंह वी. बी.	2002	दि एलीफेंट इन यू. पी. (इंडिया) जर्नल बी. एन. एच. एस. 75।